UPNUL/2013/51445 **अभिनिर्देशित** ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 9 अङ्क 1

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

अगस्त, 2019

सम्पादक :
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 125/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Ex-Co-ordinator, Centre for Advanced Study, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष 9 अङ्क 1

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

August, 2019

Editor :
Dr. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	डॉ. राजेन्द्रप्रसादशर्मा	
शोधलेख			
1.	वैदिक विज्ञान की दृष्टि से ऋषि स्वरूप विमर्श	आचार्य गुलाब कोठारी	1
2.	वैदिक साहित्य में ईश्वर–जीव–सम्बन्ध	डॉ. चन्द्रकान्ता राय	18
3.	वेदों में दार्शनिक तत्त्व	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी	23
4.	गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना का वैज्ञानिक रहस्य	प्रोफेसर (डॉ.) गणेशीलाल सुथार	27
5.	तन्त्रागम में गङ्गा–विमर्श	प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	36
6.	स्वामी करपात्रीजी के मत में भक्ति और मुक्ति का स्वरूप	कृष्णप्रसाद शर्मा	48
7.	शाक्तागमस्वरूपविमर्शः	दीपकपालीवाल:	56
8.	चिदानन्द की प्राप्ति के चतुर्विध उपाय	डॉ. सुधांशु कुमार शृंगी	61

9.	निगमागमीय दर्शन में प्राणतत्त्व	योगेशप्रसाद पाण्डेय	69
10.	मार्कण्डेय गीता में कर्मविषयक चिन्तन	प्रो. धर्मचन्द जैन	76
11.	अरविन्द दर्शन के परिप्रेक्ष्य में परमात्मा प्राप्ति के मार्ग	रामकिशोर पारीक	87
12.	दादूदयाल की साधना के विविध पक्ष	सुनील कुमार छीपा	93
13.	अनुगीता एवं वर्तमान समय में इसकी सार्थकता	समीर कुमार	99
14.	*महाभारतीय गीता महोदधि* कोशीय ग्रन्थ का परिचय	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	103

सम्पादकीय

सौभाग्य का विषय है कि परमपूज्य गुरुदेव की असीम अनुकम्पा से *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नवीन अङ्क प्रकाशित हो रहा है। इस अङ्क के प्रथम आलेख 'वैदिक विज्ञान की दृष्टि से ऋषि का स्वरूप विमर्श' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक तथा पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य प्रख्यात वेद मनीषी गुलाब कोठारी ने ऋषि के प्राणात्मक स्वरूप की वैज्ञानिक विवेचना की है। सृष्टिक्रम में ऋषि प्राण सर्वप्रथम उद्भूत होते हैं। तत्पश्चात् देव तथा पितृ प्राण प्रकट होते हैं। सृष्टि मीमांसा की यह अभिनव वैज्ञानिक व्याख्या, ओझा जी की दृष्टि से प्रमाणित एवं सुस्पष्ट करने के लिए विस्तृत विवेचनापूर्वक सम्पन्न की गई है। अत: सादर प्रणाम एवं अभिवन्दन।

द्वितीय लेख में 'वैदिक साहित्य में ईश्वर-जीव-सम्बन्ध' में डॉ. चन्द्र कान्ता राय ने अंश-अंशी सम्बन्ध, बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब सम्बन्ध तथा जीव ईश्वर से अपृथक् है—इन तीन बिन्दुओं की शास्त्रीय विवेचना सुस्पष्ट की है। उपनिषदों के उद्धरणों से इसे परिपुष्ट भी किया है। अवच्छेदवाद को भी भिन्न प्रमाणों से सिद्ध किया है। इस युक्ति प्रधान आलेख हेतु डॉ. राय सर्वथा वन्दनीय है।

तृतीय आलेख 'वेदों में दार्शनिक तत्त्व' में डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने वेदों में विकीर्ण रूप से फैले हुए दार्शनिक तत्त्वों के सूक्तों की विषय वस्तु का संक्षिप्त दिग्दर्शन किया है, एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

चतुर्थ आलेख 'गायत्री मन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना का वैज्ञानिक रहस्य' में वेदमनीषी प्रो. गणेशीलाल सुथार ने सन्ध्योपासना के गहन मर्म को सुस्पष्ट करने का विनम्र प्रयास किया है। गायत्री के आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक रहस्यों को ओझा जी के प्रमाणों से सुप्रमाणित करने का अनुपम कार्य किया है। श्रीविद्या साधकों के लिए यह तथ्यात्मक विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मैं ऐसी गम्भीर शास्त्र मनीषी के वैदुष्य को सादर प्रणाम करता हूँ।

पञ्चम आलेख 'तन्त्रागम में गङ्गा विमर्श' में प्रोफेसर शीतला प्रसाद पाण्डेय ने तन्त्रागम साहित्य में पर्याप्त परिश्रम करके गङ्गोपासना की प्रामाणिक विधि एवं मन्त्र प्रयोग की विधि पर आधिकारिक शोध लेख प्रस्तुत करके महान् उपकार किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद। नि:सन्देह यह लेख गङ्गा की उपासना के गम्भीर मर्म को समुद्घाटित करता है।

षष्ठ आलेख 'स्वामी करपात्रीजी के मत में भक्ति एवं मुक्ति का स्वरूप' में कृष्णप्रसाद शर्मा के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इन्होंने करपात्री जी के साहित्य पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करते हुए भक्ति की मुक्ति से सर्वातिशयता को सुसिद्ध किया है। भक्ति के मर्म को समझने में यह लेख साधकों की बड़ी सहायता करेगा। इस अनुपम कार्य हेतु शर्मा जी को सादर प्रणाम।

सप्तम आलेख 'शाक्तागम स्वरूप विमर्श' में दीपक पालीवाल ने आगम साहित्य का संक्षिप्त स्वरूपात्मक विमर्श प्रस्तुत करने का उत्तम प्रयास किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

अष्टम आलेख 'चिदानन्द की प्राप्ति के चतुर्विध उपाय' में डॉ. सुधांश कुमार शृंगी ने उपाय चतुष्टय– अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय का विवेचन करके श्रीविद्यासाधकों पर महान् उपकार किया है। चिदानन्द की प्राप्ति के ये चार उपाय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गूढ़ है। इनका रमणीय शास्त्रीय विवेचन करके शृङ्गी जी ने प्रशंसनीय एवं वन्दनीय कार्य किया है, अत: सादर प्रणाम।

नवम आलेख 'निगमागमीय दर्शन में प्राण तत्त्व' में योगेश चन्द्र पाण्डेय ने प्राणों के गम्भीर रहस्यों को रेखांकित करने का महनीय प्रयास किया है।

दशम आलेख 'मार्कण्डेय गीता में कर्मविषयक चिन्तन' में प्रो. धर्मचन्द जैन ने महाभारत की मार्कण्डेय गीता को आधार बनाकर कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रामाणिक विवेचन किया है एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

एकादश आलेख में डॉ. रामकिशोर पारीक ने परमात्मा प्राप्ति के मार्ग पर अरविन्द की दृष्टि से पर्याप्त प्रकाश डाला है एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

द्वादश आलेख 'दादूदयाल की साधना के विविध पक्ष' में दादू की निर्गुण साधना के विविध आयाम उद्घाटित किये गये हैं।

अन्तिम आलेख में समीर कुमार ने 'अनुगीता एवं वर्तमान समय में इसकी सार्थकता' में अनुगीता का दार्शनिक विश्लेषण किया है।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
सम्पादक
rajendrasharmauniraj@gmail.com

वैदिक विज्ञान की दृष्टि से ऋषि स्वरूप विमर्श

आचार्य गुलाब कोठारी

भारत में ज्ञान से पवित्र कोई अन्य चीज नहीं है। ज्ञान ब्रह्म है। ज्ञान ही वह मार्ग है जो ब्रह्म तक ले जाता है। ज्ञान ही प्रमाणित करता है कि सृष्टि के प्रत्येक अवयव के केन्द्र में ब्रह्म है—एको ज्ञानं ज्ञानम्। जब हम 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हैं तब वही आत्मा का पर्याय बन जाता है। वही अव्यय पुरुष है। शरीर के पंचकोशों के केन्द्र में भी ज्ञान-आत्म साक्षात्कार है। ज्ञान की प्राप्ति ही ऋषियों का विषय रहा है। जो ऋषि जिस ज्ञान की खोज करता है, उसी ज्ञान के नाम से जाना जाता है। ऋषियों के नाम जमदग्नि, भारद्वाज आदि इसलिए हो गए, क्योंकि उन्होंने इस ज्ञान का साक्षात् किया था।

ऋषि सृष्टि के आरंभक प्राणों का नाम भी है। ये सृष्टि के मूल प्राण हैं। इनका प्रतिष्ठान स्वयंभू लोक है। स्वयंभू लोक में आकाश तो है, वायु नहीं है। ब्रह्मा इस लोक के अधिष्ठाता प्राण हैं, जिनका उत्पत्ति स्थल विष्णु की नाभि है। अर्थात् परमेष्ठीलोक के केन्द्र में स्वयंभू लोक स्थित है। दोनों लोकों के मध्य ही तप: लोक है। स्वयंभू सप्तमलोक अर्थात् सत्यम्-लोक है। ऋषि प्राण अग्नि प्राण है जिनसे पितृ प्राण उत्पन्न होते हैं। ये सौम्य प्राण परमेष्ठी लोक स्थित हैं, जिसके अधिष्ठाता विष्णु प्राण हैं। स्वयंभू लोक ब्रह्माग्नि लोक है, जिसे कोई दूसरा उत्पन्न नहीं करता। स्वयंभू मण्डल वेदमय है। ऋग्, यजु, साम वेद को अग्निरूप तथा यजु को ब्रह्माग्नि कहा जाता है। इसमें यत् का गति अर्थ होने से वायु का बोध कराता है तथा जु से आकाश (स्थिति) का बोध होता है। आकाश एवं वायु के स्वरूप को ब्रह्माग्नि कहा जाता है।

यह वायु स्थूल वायु न होकर प्राण रूप आधिदैविक वायु है। स्वयंभू मण्डल प्राणमय, ब्रह्माग्निमय, यजुर्मय, वायु-आकाशमय है। क्षर पुरुष की प्रथम कला जो प्राण है, वह वायु-आकाशमय है। ऋषि-पितृ आदि इसी प्राण के अंशभूत हैं। यत् नामक वायु को ही ऋषि कहते हैं। ऋषि प्राण उन्मुग्ध अवयव तथा उद्बुद्ध अवयव—दो प्रकार के होते हैं। जिनमें अवयवों का पृथक्-पृथक् विकास नहीं होता, वे 'असत्' प्राण हैं। सत्यलोक में रहते हैं। गतिशील होने के कारण जब ये 'तप:' लोक में आते हैं, तप करते हैं, तब प्रतप्त होकर क्षुब्ध हो जाते हैं। आगे परमेष्ठी लोक में आकर इनके अवयव पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। तब इनका नाम पितृ प्राण हो जाता है। तप से बने, तप से रचना करने वाले ऋषि प्राण ही अनेक रूपों में परिणत हो जाते हैं।

उद्बुद्ध होने पर पृथक्-पृथक् होकर (धर्मभेद प्राप्त करके) ये ऋषि अनन्त जाति के हो जाते हैं। इनमें बारह प्राण प्रमुख हैं, जो युगल रूप कहे गए हैं। भृगु-अङ्गिरा, अत्रि-मरीचि, पुलस्त्य-पुलह, क्रतु-दक्ष, वसिष्ठ-अगस्त्य और विश्वामित्र-विश्वकर्मा। चूंकि ये ही पितृ प्राण रूप परिणत होते हैं, अत: पितरों के भी

यही नाम हो जाते हैं। 'त एते पितृसंज्ञा'। पितृरूप में आने के बाद ही ऋषि प्राण सृष्टिकर्ता होते हैं। क्षर पुरुष की प्रथम कला प्राण है, जबकि स्वयं क्षर वाक् रूप है। पितृ प्राण क्षर रूप वाक् में प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् वाक् रूप योनि में स्वयं को सिक्त करते हैं (वीर्य रूप में)। इन प्राणों को बल अक्षर पुरुष के मन की इच्छा द्वारा प्राप्त होता है। मन तो अव्यय का ही होता है।

ऐतरेय श्रुति में बताया है—'प्राण ही जीवन है। प्राण ही वीर्य है। वाक् योनि (उत्पत्ति स्थान) है। योनि को लक्ष्य करके (योनि के समीप आकर) सींचन किया जाता है। प्राण ही सिक्त होकर विकारों में परिणत होता है। वीर्य के सेचन से वाक् में विकृति आती है। यही विकृति अनेक वस्तुओं को पैदा करती है। सोम (मन) ही रेत का आधान करता है।'

पं. मधुसूदन ओझा ने ऋषि प्राण, पितृ प्राण, पशु प्राण आदि की विस्तृत विवेचना की है। उनके विभिन्न ग्रन्थों का सारांश हमें सृष्टि के इस कारक तत्त्व को समझने में सहायक होगा।

जगत् के मूल कारण भूत ब्रह्म के तीन रूप प्रसिद्ध हैं—सत्, असत् और सदसत्। सद् ब्रह्म वाक् स्वरूप है, असद्ब्रह्म प्राण रूप और सदसत् ब्रह्म मन रूप। वाक्, प्राण और मन ये तीनों कर्मब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हैं।

जगत् की उत्पत्ति के कारण ब्रह्म और माया हैं, जिनका रस तथा बल शब्द से श्रुतियों में व्यवहार किया गया है। बल (माया) ब्रह्म (रस) से कभी पृथक् नहीं होता, किन्तु कभी सुप्त कभी उद्बुद्ध और कभी कुर्वद्रूप (काम करता हुआ) रहता है। जिसमें बल सर्वथा सुप्त रहता है, ऐसा रस निर्विशेष ब्रह्म कहलाता है और वह मन या वाणी द्वारा किसी प्रकार व्यक्त नहीं किया जा सकता। उद्बुद्ध बल वाले नि:सीम ब्रह्म को परात्पर ब्रह्म कहते हैं। उद्बुद्ध बल जब नि:सीम ब्रह्म को सीमाबद्ध (परिच्छिन्न) बना देता है—यह तीसरी अवस्था होती है, जिसे पुरुष कहा जाता है। इस के अनन्तर सब जगत् की उत्पत्ति होने लगती है, तो वही ब्रह्म सत्य अथवा प्रकृति नाम से कहलाने लगता है, यह चतुर्थ अवस्था है।

इनमें तृतीय अवस्था के तीन भेद हैं—जो अव्यय, अक्षर और क्षर नाम से विख्यात हैं। अव्यय पुरुष कार्यकारणातीत एवं सबका आलम्बन साक्षी रूप है। अक्षर पुरुष संसार का निमित्त कारण है और क्षर पुरुष संसार का उपादान कारण।

अव्यय आदि तीनों पुरुषों की प्रत्येक की पांच-पांच कलाएं होती हैं और परात्पर ब्रह्म की एक कला—इस प्रकार सोलह कला वाले पुरुष का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पांच कलाएं अव्यय पुरुष की होती हैं। इनमें आदि की तीन कलाएं आनन्द-विज्ञान-मन मुक्ति की साक्षी और अन्तिम तीनों मन, प्राण और वाक् सृष्टि की साक्षी कहलाती हैं। मन नाम की मध्य की कला का दोनों भागों में सम्बन्ध माना जाता है। इनमें चतुर्थ प्राण नामक कला के आधार पर अक्षर पुरुष का विकास होता है और पञ्चम वाक् नामक कला के आधार पर क्षर पुरुष का।

क्षर पुरुष भी दो प्रकार का है—अमृतक्षर और मर्त्यक्षर। इनमें मर्त्यक्षर ही प्रकृति रूप से विकसित होता है। इस सब के अनन्तर प्रकृति के प्रपञ्च में परस्पर सम्मिश्रित मन, प्राण और वाक् पुन: अपने नवीन रूप

धारण करते हैं, जो कि अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत नाम से विख्यात हैं और भिन्न-भिन्न कार्य किया करते हैं। इन्हीं को प्रकृत में कर्म ब्रह्म कहा है। अर्थात् ज्ञान, क्रिया और अर्थ (मैटर) ये तीन वस्तु हैं। इनमें से ज्ञान का मूल है मन, क्रिया का मूल प्राण और अर्थ का मूल वाक् है।

संसार में प्राण वाले पदार्थ ही सत् कहे जाते हैं। प्राण में (अतिरिक्त) प्राण नहीं रहता, इस कारण वह सत् नहीं कहा जा जाता। अत: वह 'असत्' है। वाक् में प्राण होने से वह (वाक्) सती (सत्ता वाली) कहलाती है, किन्तु स्वयं प्राण में प्राण न होने से वह 'असत्' कहलाता है।

प्राणों के समूह को भी पुरुष कहते हैं। यह समूह दो प्रकार का होता है। भिन्न-भिन्न जाति के प्राणों का समुदाय और एक जाति के प्राणों का समुदाय। भिन्न जातीय प्राण-समुदाय को देव कहते हैं और एक जातीय प्राण समुदाय को ऋषि।

शतपथ-ब्राह्मण में सृष्टि की आदि अवस्था के बारे में कहा गया है कि-आदि में यह सारा सृष्टि प्रपञ्च असत् था। असत् का अर्थ यहां ऋषि है। अर्थात् सृष्टि की पूर्वावस्था में केवल ऋषि ही थे। प्राण ही ऋषि कहे जाते हैं।

साकञानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश: स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपश:॥ *(ऋग्वेद 1/164/15)*

अर्थात् इस जगत् में कालरूप के साथ-साथ उत्पन्न होने वाली छह ऋतुएं हैं जो कि ऋषि अर्थात् गमनशील हैं और देव (सूर्य) से उत्पन्न हुई हैं। ये ऋतुएं युग्मरूप हैं अर्थात् दो-दो मास की एक ऋतु होती है। जब कभी अधिक मास होता है तो वह सातवीं ऋतु है, जो कि एकाकी है। इन ऋतुओं के भिन्न-भिन्न कार्य हैं और भिन्न-भिन्न रूप हैं। ये ऋतुएं चक्रवत् घूमा करती हैं। अर्थात् एक के बाद दूसरी आया करती है। यह क्रम सदैव चला करता है।

यहां ऋतुओं को ऋषि कहा गया है। श्रुति और स्मृति में ऋतुओं को 'पितर' कहा गया है, किन्तु ऋषियों से ही पितरों की उत्पत्ति होती है। ऋषि ही पितृरूप से परिणत हो जाते हैं। अत: ऋतुओं के उत्पादक 'मूलतत्त्व' को यहां ऋतु शब्द से बताया गया है और वे मूल तत्त्व ऋषि प्राण ही हैं।

वेद मन्त्रों में अनेक भाव रहते हैं। इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी हो सकता है। मस्तक में सात प्राण हैं। मनुष्य-शरीर में चार गुफाएं होती हैं—शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा और वस्तिगुहा। प्रत्येक गुफा अथवा गुहा में कार्य करने वाले सात प्राणों के स्थान होते हैं। इन सातों का केन्द्र एक मुख्य प्राण है, जो सातों को शक्ति देने वाला है, वह इन्द्र कहा जाता है। इन में छह तो युगल रूप से रहते हैं और सातवां एकाकी रहता है। शिरोगुहा में दो कान, दो आंख, दो नाक—ये छह युग्म रूप से हैं, सातवां मुख एकाकी। इनमें मुख्य प्राण केन्द्रभूत ब्रह्मरन्ध्र में रहता है जो ज्ञानशक्ति देने वाला है। उरोगुहा में दो हाथ, दो फुफ्फुस, दो स्तन और सातवां हृदय है। इनका केन्द्रभूत मुख्य प्राण कण्ठकूप है, जो पराक्रम शक्ति देता है। उदरगुहा में यकृत और प्लीहा दो, आमाशय और पक्वाशय दो, वृक्क दो और सातवीं नाभि। इनका केन्द्रभूत मुख्य प्राण हृदय है, जो

पूर्वगुहा का अन्तिम स्थान है और अन्न संग्रह तथा उसके विभाजन की शक्ति देने वाला है। वस्तिगुहा में दो पैर, मूत्र और वीर्य निकलने के दो छिद्र, दो अण्डकोश, सातवीं गुदा। इनका केन्द्रभूत इन्द्र प्राण नाभि है, जो पूर्व गुहा का अन्तिम स्थान है और शरीर क्रम के निर्वाह के लिए उत्सर्ग शक्ति देने वाली है।

इस शरीर विज्ञान के आधार पर ही विराट् के ब्रह्माण्ड रूप शरीर में भी शक्ति के चार विभाग किए गए हैं। उनके आधार पर चातुर्वर्ण्य माना गया है। ज्ञानशक्ति प्रधान हो वे ब्राह्मण, पराक्रम शक्ति प्रधान हो वे क्षत्रिय, धन-धान्यादि संग्रह और उनके उचित विभाजन की शक्ति प्रधान हो वे वैश्य, सब की सेवा तथा शिल्पकला की शक्ति प्रधान हो वे शूद्र हैं।

प्राणों की उत्पत्ति देवताओं से है, जैसे सूर्य से नेत्र, दिशाओं से कान और अश्वि से नाक उत्पन्न हुए हैं। और ये (पृथक्-पृथक्) अपने-अपने स्थानों में प्रतिष्ठित हैं, प्रत्येक प्राण के भिन्न-भिन्न कार्य होने से इनके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, और ये सदा क्रियाशील रहते हैं।

इसी प्रकार सप्तर्षि तारामण्डल में भी छह तारा युग्म रूप से (एक-दूसरे के अभिमुख) रहते हैं और सातवां अकेला।

ब्राह्मणों में कई जगह भिन्न-भिन्न प्राणों को भिन्न-भिन्न ऋषि नाम से सम्बोधित किया गया है। जैसे 'प्राणो वै वसिष्ठ ऋषि:'। अर्थात् मुख्य प्राण वसिष्ठ ऋषि है। वह श्रेष्ठ है इसलिए वसिष्ठ है। मन 'भारद्वाज' ऋषि है। वाज नाम अन्न का है और मन अन्न का ही परिणाम है, 'अन्नमयं हि सोम्य मन:' जो मन को धारण करता है, वह अन्न का अवश्य भरण (भोजन) करता है, इसलिए वह मन 'भारद्वाज' हुआ।

चक्षु 'जमदग्नि' ऋषि है। 'जमत्' शब्द 'जगमत्' से बना है। अर्थात् जिससे जगत् को पहचाना जाए, वह 'जमत्' हुआ। 'चक्षु' (आंख) 'जमत्' भी है, और प्रकाशशील (चमकदार) होने के कारण 'अग्नि' भी है। देखने के कारण ऋषि है, (ऋषिर्दर्शनात्) इस प्रकार चक्षु 'जमदग्नि ऋषि' हुआ।

श्रोत्र (कान) विश्वामित्र ऋषि है। कान से सबकी बात सुनी जाती है। जिसकी बात सुनते हैं, वह अपना मित्र हो जाता है, अत: विश्व को मित्र बना देने वाल कान विश्वामित्र हुआ।

वाक् विश्वकर्मा ऋषि है। वाक् से ही सब जगत् है। अत: 'विश्व है कर्म जिसका' वह वाक् विश्वकर्मा हुआ। प्राण ही देव रूप भी हैं।

जनक के यज्ञ में शाकल्य ऋषि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से प्रश्न किया है कि कितने देवता हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया एक, डेढ़, दो, तीन, छह, तैंतीस हजार। ऋषि ने कहा-प्राण रूप देवता एक है। वायु देवता जो प्राण का मूल है, अध्यर्द्ध है। 'अध्यर्द्ध' डेढ़ को कहते हैं किन्तु यहां अध्यर्द्ध का अर्थ है जिसमें सब तत्त्व बढ़ते रहें। अन्न और प्राण ये दो देव हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन देव हैं। इनके अधिष्ठाता अग्नि, वायु और सूर्य मिलाकर छह हो जाते हैं। इनके ही प्रपञ्चभूत आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति तैंतीस देवता होते हैं। प्राण मुख्य देव हैं। तारामण्डल में भी अग्नि, इन्द्र आदि देव हैं। दूसरे लोक में

(सूर्यमण्डल, तारामण्डल आदि में) रहने वाले प्राणिविशेष भी देव हैं। सुमेरु प्रान्त के स्वर्ग में रहने वाले मनुष्य भी देव हैं। विशिष्ट विद्वान् भी देव कहे जाते हैं। कुल आठ प्रकार के देव हैं।

देवता प्राणरूप हैं और ऋषि भी प्राणरूप, किन्तु देव ऋषि नहीं होता और न ऋषि देवता होता है। देवता और ऋषि दोनों भिन्न हैं।

ऋषि के जो चार प्रकार बताए गए हैं, उनमें इन्द्रादि चतुर्थ प्रकार के हैं। इन्द्र आदि देवों को भी वक्ता माना गया है, इसलिए ये चौथे प्रकार के ऋषि होते हैं। असत् जाने वाले प्राणों में देवों की गणना नहीं हो सकती।

वाजसनेयश्रुति में जो मध्य में रहने वाला प्राण है, वह इन्द्र है। मौलिक ऋषिरूप प्राण को इन्द्र कहा है, अर्थात् मध्य स्थित प्राण सम्पूर्ण मण्डल स्थित प्राणों का या प्राणसमूह देवों का रस यज्ञ-प्रक्रिया से लेता या देता है इसलिए यह विशुद्ध प्राण भी प्राणसमूह रूप है। भिन्न-भिन्न जातीय प्राण समूह को ही 'देव' कहते हैं। इसलिए मध्य प्राण का देवाधिपति इन्द्र है।

बृहस्पति का नाम भी देववर्ग में आता है, पितृवर्ग में और ऋषि वर्ग में भी। किन्तु यहां बृहस्पति भिन्न-भिन्न अर्थ में है। अर्थात् 'बृहस्पति' नाम से अनेक प्राण वर्णित हैं। कहीं देवरूप, कहीं पितृरूप और कहीं ऋषिरूप भी।

आकाश-मण्डल में चमकने वाले ऋक्ष नक्षत्र, तारा आदि को भी ऋषि कहा गया है। ऋषि शब्द अनेक हैं। शतपथ श्रुति में कहा गया है कि- अन्यान्य नक्षत्रों में एक, दो, तीन या चार तारे हैं, किन्तु कृत्तिका में सात तारे हैं। यह जो सप्तर्षि मण्डल है, ध्रुवतारा के निकट उत्तर दिशा में है। कृत्तिका के तारे पूर्व में हैं।

आसुः। सप्तर्षीनु ह स्म पुरर्क्षा इत्याचक्षते।
अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति पुर एताः *(शतपथ ब्राह्मण 2/1/2/4)*
'जज्ञानः सप्तमातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।'

अर्थात् सप्तर्षि नाम से प्रसिद्ध सात तारे जगत् के उत्पादक होने के कारण माता का स्थान ले लेते हैं। इन मातृ-रूप सात नक्षत्रों के साथ ध्रुव सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुआ है।

'य इमा विश्वा' मन्त्र में ऋषि का अर्थ ध्रुव नक्षत्र है। ध्रुव सब भुवनों का आकर्षण है। सम्पूर्ण जगत् ध्रुव के आकर्षण पर अवलम्बित है, और ध्रुव के चारों तरफ घूमा करता है। ध्रुव द्युलोक का अधिष्ठाता (स्वामी) है, अतः हमारा पिता है। स्वर्ग पिता और पृथ्वी माता है।

सप्त ऋषि का वैदिक स्वरूप

विश्वकर्मा विमना आद् विहाया विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् परमेकमाहुः। *(ऋक् संहिता 10/82/2)*

विश्वकर्मा नाम से कश्यप तथा विमना नाम से इन्द्र का ग्रहण है। इनके आस-पास विहाया अर्थात् अग्नि और धाता, विधाता आदि सब तारे हैं। इनमें 'कश्यप' 94 अंश पर है। 'इन्द्र' चित्रा नक्षत्र में 'उल्लू' पक्षी के समान आकार वाला है, और अग्नि, ब्रह्म हृदय एवं प्रजापति के साथ त्रिकोण बनाता हुआ 80 अंश पर मिथुन राशि में है। धाता, विधाता ध्रुव के समीप लघु सप्त ऋषि हैं। इन्हें 'संदृक्' कहा गया है, अर्थात् ये दोनों सबसे ऊंचे हैं। इनके समीप ही सातों ऋषि हैं।

त आयजन्त द्रविणं सम् अस्मा ऋषय: पूर्वे जरितारो न भूना। *(ऋक् संहिता 10/82/4)*

तारारूप में ऋषिगण सूर्य ताप से रहित अर्थात् सूर्यमण्डल से दूर एवं सूर्य ताप में संगृहीत अर्थात् समीप दोनों प्रदेशों के लोकों पर अपने तेज से घिरे रहते हैं, जैसे यज्ञ में स्तोता लोग चारों ओर बैठते हैं। ये नक्षत्र रूप ऋषि समस्त जगत् को धनधान्य से पूर्ण करते हैं। ये ही सब भूतों के रचयिता हैं, क्योंकि तारामण्डल को ही सब प्राणियों का उपकारक तथा उत्पादक माना गया है। ध्रुव तथा उसके समीप के सात तारों में और बाकी तारागण में भी ऋषिपद श्रुति में देखा जाता है।

सात तारों में चार चौकोर रूप में चारों कोनों में स्थित हैं। तीन पूर्व दिशा में हैं। पूर्व की तरफ सब से आगे दिखाई देने वाले 'मरीचि' हैं। पश्चिम में 'अङ्गिरा' हैं। इन दोनों के मध्य में साध्वी अरुन्धती के साथ ऋषि वसिष्ठ हैं।

अङ्गिरा के समीप अत्रि और आगे क्रमश: पुलस्त्य, पुलह और क्रतु हैं। उत्तर दिशा में मार्कण्डेय, कश्यप आदि, मध्य आकाश में बृहस्पति, मत्स्य आदि एवं दक्षिण दिशा में अगस्त्य आदि विशिष्ट तारागण ऋषिरूप में माने जाते हैं।

एक मत यह भी है कि प्राणरूप ऋषि और तारारूप ऋषि सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वास्तव में प्राण तत्त्व ही ऋषि है। सूर्य की किरणों में रहने वाले सम्पूर्ण प्राण देव, चन्द्रमा की किरणों में रहने वाले सब प्राण पितर और ऋक्षरूप वाले चमकते नक्षत्रों में रहने वाले सभी प्राण ऋषि कहलाते हैं। जिस-जिस नक्षत्र में जिस-जिस ऋषि प्राण की प्रधानता है, उस नक्षत्र को उस ऋषि के नाम से जाना गया है।

ऋषि शब्द का अर्थ तत्त्वद्रष्टा है। विद्या, ब्रह्म और वेद ये तीनों समानार्थक शब्द हैं। परस्पर अर्थों में कुछ मौलिक भेद रहते हुए भी एक के स्थान में दूसरे का प्रयोग देखा जाता है।

प्राण, देव पञ्चभूत और भौतिक पदार्थों का जो नियत कार्य-कारण-भाव है अर्थात् किससे कौन उत्पन्न हुआ, किस में किस प्रकार के गुण-धर्म हैं, इत्यादि के ज्ञान को विद्या कहते हैं। जो नियत है, और वास्तविक है वही विद्या है, वही ब्रह्म है और वही वेद है।

इनमें सूक्ष्म भेद यह है कि पदार्थों में नियत कार्य-कारण-भाव (गुण-धर्म) के प्रत्यक्ष ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं। जिन गुण-धर्मों का प्रत्यक्ष पूर्व में हो चुका हो उस ज्ञान को विद्या कहते हैं। शब्द द्वारा होने वाले

उसी ज्ञान को वेद कहते हैं। इस प्रकार तीनों का अर्थ यद्यपि यथार्थ ज्ञान ही है, तथापि ज्ञान कराने के साधन भिन्न-भिन्न होने से भेद माना जाता है।

'ऋषि मन्त्रद्रष्टा होता है', 'पहले सब वस्तु धर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने वाले ऋषि हुए, ऋषियों ने उन मनुष्य को, जो वस्तु तत्त्व का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ थे-उपदेश द्वारा मन्त्र दिए' इन के वाक्यों में मन्त्र अपने मुख्य अर्थ को छोड़कर, देवता-विज्ञान रूप में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि ऋषि वस्तु-तत्त्व के द्रष्टा हैं और वह तत्त्वज्ञान ही वे दूसरों को देते हैं।

मन्त्र के समान अर्थ वाला ब्रह्म शब्द भी है, जो कि इसी तरह उभयार्थक है। शब्दब्रह्म और परब्रह्म ये दोनों ब्रह्म जानने योग्य हैं, इनमें शब्दब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर, परब्रह्म का ज्ञान होता है।

भाव यह है कि शब्दब्रह्म द्वारा जानने योग्य वस्तु विज्ञानरूप परब्रह्म ही है।

मन्त्र और ब्रह्म दोनों समान रूप से वाक्य और देवता-विज्ञान रूप सम्मिलित अर्थ में व्यवहृत होते हैं। ब्रह्म ही वेद है, अथवा ब्रह्मविद्या का नाम वेद है।

ब्रह्म स्वयं अपने आपको यज्ञरूप बनाता हुआ, सब कुछ बना है, सब कुछ बनता है, और सब कुछ बनेगा। यह जो कुछ है, यज्ञरूप ही था, यज्ञरूप ही है और यज्ञरूप ही होगा। भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में सब पदार्थ यज्ञरूप ही हैं।

यज्ञ का विज्ञान ही वेद है। यज्ञ को धर्म कहते हैं। यज्ञ के शरीर (स्वरूप) में सब देवता आ जाते हैं, यज्ञ के ज्ञान से देवताओं का ज्ञान हो जाता है, अत: देवता-विज्ञान वेद है।

प्रधान देवता प्रजापति हैं, और प्रजापति से ही यज्ञ की उत्पत्ति होती है। प्रजापति के आधार से ही यज्ञ स्थित है और प्रजापति में ही लीन होता है। यज्ञ प्रजापति रूप ही है, अत: प्रजापति-विज्ञान वेद है।

प्रजापति अनन्त हैं, और यज्ञ भी अनन्त हैं। इन सब में प्रधान, सब के आत्मरूप भगवान् सूर्य हैं, अत: वेद को सूर्य-विज्ञान भी कह सकते हैं। सूर्य के ही वास्तविक ज्ञान से सब देवता, यज्ञ और समस्त प्रजापति जान लिए जाते हैं। इस प्रकार सूर्य-वेद, दैवत-वेद, धर्म-वेद, प्रजापति-वेद और ब्रह्म-वेद आदि पृथक्-पृथक् नाम से वेद का व्यवहार किया जा सकता है।

वेद को जिन्होंने प्रकट किया अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में तपस्या द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त कर, सूक्ष्म, प्रत्येक पदार्थ के गुण-धर्मों को प्रत्यक्ष देखकर, जिन्होंने इस विज्ञान का अन्य सब को उपदेश किया है, वे ही वेद के आचार्य ऋषि कहे जाते हैं।

इन ऋषियों ने वेद मन्त्र की रचना की है—इसलिए ये मन्त्रों के कर्ता में भी हैं और मन्त्रों के द्रष्टा भी हैं।

मनुस्मृति में कहा है कि-एक ऋतु के बाद जो दूसरी ऋतु आरम्भ होती है-उस ऋतु की रचना ठीक पूर्व वर्ष की रचना के समान होती है। यही क्रम मनुष्य वर्ग में भी है, अर्थात् पूर्वकल्प में किए गए कर्मों के संस्कार ही

मनुष्य को दूसरे कल्प में उन्हीं कर्मों में प्रवृत्त कर देते हैं। यही बात पुराणों में भी प्रतिपादित है। सनत्कुमारों को जन्म से ही ज्ञानोदय था। पुराणोक्त उपाख्यान भी इस सिद्धान्त पर ही आधारित है। 'अजान् ह वै'-महर्षिगण आरम्भ से ही तपस्या में प्रवृत्त थे और तपस्या के फलस्वरूप ही उनके हृदय में वेदों का आविर्भाव हुआ था।

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां दैवीं वाचं हविषा यजामहे, सा नो दधातु सुकृतस्य लोके।।

(तैत्तिरीयब्राह्मण 2-7-7)

अर्थात् मन्त्रों के बनाने वाले, मन को रोकने में समर्थ, देवभाव को प्राप्त ऋषियों ने अपने तप और श्रम से जिस देवी वाणी को प्रकट किया, उस देवी वाणी का हम हवि के द्वारा यजन (पूजन) करते हैं, वह हमें पुण्यकर्ताओं के लोक में ले जावे।

नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो
मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुर्माहमृषीन्
मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम्। *(तैत्तिरीयारण्यके 4/1/1)*

अर्थात् 'मन्त्रों के बनाने वाले मन्त्रों के स्वामी ऋषियों को मेरा प्रणाम है। मन्त्रों के स्वामी ऋषि मुझे अपने से दूर न करें। अर्थात् मुझे अपना ज्ञान दें और मैं भी उन मन्त्रों के बनाने वाले और मन्त्रों के स्वामी ऋषियों को दूर न करूं-अर्थात् उनका स्मरण करता हुआ उनसे सदा ज्ञान लेता रहूं।'

'यामृषयः' आदि श्रुति में जो वेदवाणी को 'देवी वाक्' कहा गया है, उसका भी तात्पर्य यही है कि तत्त्वों का पारावार देखने वाले, वेदों का अध्ययन, अध्यापन करने वाले विशिष्ट विद्वान् भी 'देव' कहे जाते हैं। उनकी वाणी होने के कारण वेदवाणी 'देवी वाक्' है।

मन्त्रकर्ता ऋषि ही थे-क्योंकि इस प्रकार की एक क्रमबद्ध वाक्य रचना अपने आप ही बिना किसी पुरुष-प्रयत्न के हो सके, यह सम्भव नहीं। शब्द रचना शरीर, बुद्धि और इन्द्रिय के द्वारा ही की जा सकती है, वह अपौरुषेय नहीं हो सकती।

यहां यह शंका हो सकती है कि शास्त्र में वाणी के चार भेद माने गए हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परावाणी आत्मस्वरूप अथवा ब्रह्मस्वरूप है। पश्यन्ती में शब्द और अर्थ एकरूप में मिले रहते हैं। जो मन-मन में ही शब्दों द्वारा विचार होता रहता है, उसे मध्यमा कहते हैं। जो बोली जाती है, जिसे दूसरे लोग भी सुन सकते हैं वह वैखरी है। वैखरी में मनुष्य के प्रयत्न की आवश्यकता स्पष्ट है। मध्यमा भी बुद्धि प्रेरणा से होने के कारण 'पौरुषेयी' कहला सकती है। किन्तु परा और पश्यन्ती में पुरुष का कोई प्रयत्न नहीं होता, इसलिए सभी वाणी पुरुष-प्रयत्न-साध्य नहीं कही जा सकती। तब पश्यन्ती वाक् में स्थित वेदों को अपौरुषेय कहने में क्या आपत्ति है।

बालक का ज्ञान 'निर्विकल्पक' है, वह व्यवहार योग्य नहीं। ऋषियों को समाधि-दशा में वेदज्ञान की प्राप्ति होती है। समाधि-दशा का ज्ञान शास्त्रों में निर्विकल्पक माना गया है। समाधि भी दो प्रकार की होती है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। सविकल्पक समाधि में ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है, इसलिए यह ज्ञान सविकल्पक ही था। ऋषियों ने ईश्वर प्रदत्त ज्ञान को और स्पष्ट सर्वोपयोगी बनाने के लिए अपने शब्दों में प्रकट किया। इसीलिए वेदों में हमें अभिलाषा, याचना, विलाप, दूसरे को शाप देना, दूसरे का खण्डन करना आदि विषय भी मिलते हैं। ये ऋषियों के वाक्यों में ही संभव हो सकते हैं।

रूपवसनक द्रव्य का जो स्थूल स्वरूप हमें आंख से दिखाई पड़ता है-वह ऋक् है। यह रूपवाला द्रव्य जितनी दूर से दिखाई पड़े वह अन्तिम मण्डल उस द्रव्य का साम है। इन दोनों के (स्थूलरूप और अन्तिम मण्डल के) मध्य में उस द्रव्य से निकलने वाले प्राण भरे रहते हैं, वे सब यजु हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों से गृहीत होने वाले द्रव्यों में भी होता है। ये वितानवेद कहे जाते हैं। अन्य छन्द आदि रूप भी वेद हैं।

इसमें श्रुतियों के प्रमाण दिए जाते हैं। *शतपथ ब्राह्मण* के वाजपेय प्रकरण की श्रुति में कहा गया है कि 'प्रजापति से भी पर यदि कोई वस्तु है, तो वह वाक् है।' इसी वाक् को अनादिनिधन अथवा नित्य कहा गया है।

नित्य वाक् तो 'सर्वलोक रूप है' 'त्रिलोकी रूप है' अथवा 'सूर्य रूप है'। संसार में जो भी कुछ है—सब वाक् ही है। स्थावर जंगम-पदार्थ मात्र वाक् का ही प्रपञ्च है। नित्य वाक् सर्वलोकात्मक है।

शतपथ ब्राह्मण की पुरश्चरण श्रुतियों में कहा जाता है कि ऋक्, यजुः और साम ये तीन विद्याएं (अर्थात् वेद) हैं। इनमें सामने दिखाई देने वाली पृथ्वी ऋक् है, मध्य का अन्तरिक्ष यजुः है, और द्युलोक (सूर्यमण्डल) साम है। ये सहस्र (अहः) वाक् से ही उत्पन्न हुए हैं। दो रूप तृतीय स्थान में इन्द्र हैं और तृतीय रूप विष्णु है। ऋक् और साम इन्द्र है और यजुः विष्णु है। तेज से ही तेज पैदा हुआ, ऋक् और साम से इन्द्र हुआ। इन्द्र इसको ही कहते हैं, जो कि तप रहा है (अर्थात् सूर्य ही यहां इन्द्र)। यही सब का भर्ता अर्थात् भरण-पोषण करने वाला है।

पृथ्वी की किरणें-सूर्य-मण्डल तक जाती हैं। यदि सूर्य-मण्डल पर खड़ा होकर कोई पृथ्वी को देखे तो पृथ्वी छोटे से तारे के समान दिखाई पड़ेगी। सूर्यमण्डल से आगे जाने पर पृथ्वी दिखाई नहीं देगी। इसलिए वैदिक परिभाषा में पृथ्वी की अन्तिम प्राण-परिधि को 'रथन्तर साम' कहते हैं। भगवान् सूर्य की सुनहरी किरणों का जाल उनका रथ कहा जाता है। सूर्य का मण्डल काले वर्ण का है, किन्तु उनका किरण-जाल पीतवर्ण है। पृथ्वी-प्राण का अन्तिम मण्डल (पृथ्वी का साम) सूर्य के रथ तक व्याप्त होने के कारण ही रथन्तर कहलाता है। प्रत्येक साम-मण्डल तक सहस्र भाग होते हैं, जिन्हें 'अहः' कहा जाता है। पृथ्वी-मण्डल से सूर्य मण्डल तक बीच अन्तरिक्ष में पृथ्वी के प्राण व्याप्त रहते हैं। पृथ्वी के प्राण ही अन्तरिक्ष में दूध, दही और घृत के समुद्र उत्पन्न करते हैं। वैदिक परिभाषा में इस ऋक् यजुः और साम रूप पृथ्वी को ही पार्थिव त्रिलोकी कहते हैं। सूर्य-मण्डल में व्याप्त प्राणों को इन्द्र कहा जाता है।

शतपथ ब्राह्मण की 'अग्निचयन' श्रुति में कहा गया है कि सम्वत्सर को ही अग्नि कहते हैं। अग्नि की उपनिषत् इसका (मुख्य तत्त्व) वाक् है। यह वाक् तीन प्रकार से विभक्त की गई है—ऋक्, यजुः और साम।

अर्थात् अग्नि ही तीन प्रकार से विभक्त हुआ। यहां जो 'वाक्' है, वह सूर्य ही है। सूर्य का मण्डल ही 'ऋक्' है। इसकी ज्वाला (तेज की अर्थात् किरणों की अन्तिम परिधि) 'साम' है, और पुरुष यजु: है। जो प्रकाश चमक रहा है वह पुष्करपर्ण (कमल का पत्ता) है। जो 'सूर्य' मण्डल तप रहा है, वह 'महदुक्थ' है। यही ऋक् है जो ऋचाओं का लोक है। जो प्रकाश फैल रहा है, वह 'महाव्रत' है। यही साम है। यही साम का लोक है। सूर्य मण्डल में जो पुरुष है, वह अग्नि है, उसे ही 'यजु:' कहते हैं। यही यजु: का लोक है। इस प्रकार यह त्रयी विद्या (तीनों वेद) ही तप रही है।' अग्निचयन श्रुति में वाक् को सूर्यरूप कहा गया है।

यहां सूर्यमण्डल की त्रिलोकी का संकेत है। सूर्य का मण्डल ऋक् है, उसका प्रकाश जहां तक फैलता है वह प्रकाश का अन्तिम मण्डल सूर्य का साम है। साम को वैदिक परिभाषा में 'बृहत् साम' कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसके अन्तर्गत है। एक सूर्य का प्रकाश जहां तक पहुंचे उसी का नाम ब्रह्माण्ड है। इस सम्पूर्ण सूर्यमण्डल (सूर्य मण्डल से लगाकर अन्तिम परिधि तक) का प्राणरूप तत्त्व व्याप्त रहता है। वह पुरुष पद, अग्नि पद और सम्वत्सर पद कहा गया है। वही इस ब्रह्माण्ड में वेद, देव, लोक, भूत आदि का उत्पादक है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच: सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। *(ऋक् संहिता 10/90/9)*

इस पुरुष सूक्त के मन्त्र में ऋक, यजु: और साम को यज्ञ से उत्पन्न कहा गया है।

मन्त्र का आशय है कि उस सर्वहुत यज्ञ से (जिसका निरूपण इसके पूर्व मन्त्र में हो चुका है) ऋक् और साम उत्पन्न हुए। उससे छन्द उत्पन्न हुए और उससे ही 'यजु:' भी उत्पन्न हुआ।

यद्यपि वाक् और ऋक्, यजु:, साम, नित्य हैं, किन्तु प्रजापति के नि:श्वास रूप से इनका पुन: प्रादुर्भाव होता है। ऋक्, यजु:, साम नाम की तीन प्रकार की वाक् ही स्वयंभू हैं। मन, प्राण और वाक् अव्यय पुरुष की कला हैं, जो कि प्रकृति के सम्बन्ध से पुन: दूसरे रूप में प्रकट होती हैं। यह पुन: प्रादुर्भाव 'सर्वहुत' यज्ञ से होता है।

स्थूल जगत् में सब पदार्थों की नाभि (केन्द्र) में जो प्रजापति (केन्द्र शक्ति) रहता है—वाक् प्रजापति का नि:श्वास रूप ही है। नाभि के चारों ओर वाक् व्याप्त रहती है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत यज्ञ-प्रक्रिया से प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में से प्राणसहकृत वाक् निकलती है। वही ऋक्, यजु: और साम मण्डल बनाती है। भीतर से प्राण के आघात से निकलने के कारण उसे नि:श्वास रूप कहा गया है। मनुष्य का नि:श्वास इच्छा से नहीं निकाला जाता, स्वत: चलता रहता है। उससे ही मनुष्य के जीवित होने का परिचय मिलता है। इसी प्रकार वेद प्रजापति से (स्वत:, इच्छा से नहीं) प्रकट होते हैं, और इनसे ही प्रजापति का परिचय मिलता है। वैसे तो प्रजापति अतीन्द्रिय है। ईश्वर का परिचय भी हमें वेदादि द्वारा ही मिलता है। अत: उन्हें ईश्वर-नि:श्वास कहा गया। यों नि:श्वास की समता से बहुत कुछ समझाया गया है। प्रथम प्रजापति को स्वयंभू कहते हैं, यह स्वयंभू ऋक्-यजु:-साम रूप ही है। ऋक्, यजु:, साम से ही यह मण्डल बनता है और यही मण्डल में से बाहर फैलते हैं। यही कारण है कि वेदों की उत्पत्ति ब्रह्मा (स्वयंभू) से मानी जाती है।

वेद ईश्वररूप हैं, ईश्वर के नि:श्वास रूप हैं अथवा ईश्वर द्वारा बनाए गए हैं—ये तीनों मत प्रचलित हैं। तपस्या के द्वारा जिनका अन्त:करण शुद्ध हो गया है, जिनके हृदय में ईश्वरीय प्रकाश का आविर्भाव हो चुका है और जिनमें अति सूक्ष्म तथा व्यवहृत पदार्थों को देखने की शक्ति आ गई है—ऐसे महर्षियों के हृदय में नित्य वेद अपने आप आविर्भूत होते हैं।

इसी प्रकार अन्यत्र भी ऋषियों को ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'अजान् ह वै' मन्त्र का अर्थ है कि तपस्या करते हुए 'अज' और 'पृश्नि' ऋषियों के हृदय में (बिना इन्द्रिय आदि की सहायता के) स्वयं प्रादुर्भूत ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ। नित्य ज्ञान को प्राप्त करने के कारण ही उन पुरुषों को ऋषि कहा गया।

उपर्युक्त श्रुति में 'अज' शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार माधवाचार्य ने लिखा है—वे सृष्टि के आरम्भ में एक बार ही उत्पन्न होते हैं, सामान्य जनों की तरह जन्म-मरण के प्रवाह में नहीं पड़ते। अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण मुक्त हो जाते हैं, या अधिकारी पुरुष के रूप में उसी ही शरीर में बने रहते हैं। इसलिए उन्हें 'अज' कहा है। अज अर्थात् आगे जन्म न लेने वाला।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में अज शब्द विशुद्ध ज्ञानमय पुरुष तत्त्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूर्वोक्त ऋषि प्रकृति-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, विशुद्ध ज्ञान ही उनका स्वरूप रह जाता है। पृश्नि पद भी ऋषियों के लिए आया है। पुराणों में 'अज' और 'पृश्नि' नाम के विशेष ऋषि भी वर्णित हैं।

यज्ञेन वाच:पदवीयमायंस्तामन्त्रविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। *(ऋक्संहिता, 10/71/3)*
यो वै ज्ञातोकनूचान: स ऋषि:। *(शतपथ ब्राह्मण 4/3/4/19)*
अग्नि: पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवां एह वक्षति। *(ऋक्संहिता,1/1/2)*

'यज्ञेन वाच:' श्रुति का अर्थ है कि धीर विद्वानों ने यज्ञ से वाणी के मार्ग (पगडंडी) को प्राप्त किया और (उस मार्ग पर चलते हुए) ऋषियों में प्रविष्ट वाणी को प्राप्त किया। आगे बताया गया है कि उस वाणी रूप सम्पत्ति को इकट्ठा कर बहुत जगह फैलाया अर्थात् बहुत मनुष्यों को पढ़ाया। गायत्री आदि छन्द रूप पक्षी इस वाक् को चारों ओर घेरे हुए हैं। इससे भी सिद्ध है कि ऋषियों के हृदय में वेदवाक् प्रविष्ट हुई। यज्ञ आदि कर्मकलाप से विशुद्ध मुनियों ने उनसे वेदवाक् प्राप्त किया।

शतपथ ब्राह्मण में और भी स्पष्ट लिखा है कि जो विद्वान हैं और वक्ता (अध्यापक) हैं वे ही ऋषि कहलाते हैं।

ऋग्वेद के आरम्भ में कहा गया है कि—'पूर्व काल के ऋषि अग्नि की स्तुति करते रहे हैं, और नवीन ऋषि भी अग्नि की स्तुति करते हैं।'

इन सब श्रुति वचनों से ऋषियों का ज्ञान प्राप्त करना स्पष्ट होता है। ज्ञान प्राप्त करने के कारण ही वे 'आप्त' कहलाते हैं। आप्त अर्थात् प्राप्तिकर्ता, जिसने ज्ञान की प्राप्ति की है। वे आप्त स्वयं प्राप्त किए अनुभवों

को (जैसा देखा है-वैसा ही) दूसरों को समझाने के लिए वाणी का प्रयोग करते हैं। उन द्रष्टा आप्तों के वाक्यों का नाम 'श्रुति' है।

आप्त दो प्रकार के होते हैं—एक दृष्टार्थ (लौकिक अर्थ) के आप्त और दूसरे, अदृष्टार्थ (अलौकिक अर्थ) के आप्त। जिसके ज्ञान का विषय लौकिक हो अर्थात् जिसे दूसरे लोग भी देख सकें-वह दृष्टार्थ आप्त और जिसके ज्ञान का विषय अलौकिक हो-अर्थात् इस लोक में सर्वसाधारण जिसे न देख सकें पर लोक सम्बन्धी विषय हो वह अदृष्टार्थ आप्त होता है।

वात्स्यायन के कथनानुसार द्रष्टा दो प्रकार के हैं—लौकिक और ऋषि। जिस विषय को सुनने वाला भी देख सके अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय से परे के पदार्थ को देखने की जिसकी शक्ति न हो, उसे 'लौकिक द्रष्टा' कहते हैं। किन्तु जो तप के प्रभाव से अनागत पदार्थों में भी प्रवेश करने की दृष्टि प्राप्त कर, अलौकिक तत्त्व का उपदेश करता है-उसे ऋषि कहते हैं। वह पूर्ण आप्त है।

शब्द द्वारा होने वाले ज्ञान के पश्चात् निर्विकल्पक या संदेहनिवर्त्तक ज्ञान अवगम कहलाता है—वही अधिगम, वही प्रत्यक्ष और वही ज्ञान प्रमा (निश्चित ज्ञान) कहलाता है। इस प्रमारूप ज्ञान को प्राप्त करना 'आप्ति' है, और आप्ति से संपन्न-आप्त कहा जाता है।

सूर्य मण्डल से ऊपर के लोकों के तत्त्व भी जिसने जान लिए हों वह महर्षि कहे जाते हैं, और सूर्य मण्डल तक के 'मर्त्य' तत्त्वों को ही जिसने समझा है, वह ऋषि।

वाक्, वेद और वेद के अवान्तर-विशेष ऋक्, यजुः, साम आदि शब्द श्रुतियों में दो प्रकार के अर्थों में मिलते हैं-वैज्ञानिक पदार्थों के वाचक और ज्ञान के वाचक। अव्ययपुरुष की कलाओं में वाक् एक कला है, जो ऋक्, यजुः, साम रूप से विस्तृत होती है। यही सर्वत्र व्याप्त है। जो वेद शब्द का ज्ञान अर्थ है उसमें भी कई प्रकार हो जाते हैं। ज्ञान, बिना अर्थ (विषय) के नहीं होता। कोई न कोई विषय उस में प्रविष्ट रहता ही है। उस विषय का वाचक कोई शब्द भी ज्ञान में प्रविष्ट रहता है। यों ज्ञान, उससे संबद्ध शब्द समूह और ज्ञान के विषय लौकिक या अलौकिक अर्थ ज्ञान की परिधि में आ जाते हैं। ये सभी मिलकर अथवा पृथक्-पृथक् रूप में भी वेद कहलाते हैं। जब वेद शब्द केवल शुद्ध ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो वेद अपौरुषेय हैं। क्योकि ज्ञान को कोई उत्पन्न नहीं कर सकता, वह नित्य है। ज्ञानरूप वेद को हम ईश्वररूप भी कह सकते हैं।

वेद को केवल ज्ञान रूप न मानकर यदि लौकिक या अलौकिक विषयक विशिष्ट ज्ञान मानें तो हम कह सकते हैं कि वेद ईश्वर द्वारा निर्मित हैं।

वृत्त्यात्मक ज्ञान में भी ज्ञान अंश नित्य है—वह ईश्वर द्वारा उत्पन्न नहीं होता। वेद ईश्वर-प्रणीत हैं अतः ईश्वर के निःश्वास रूप हैं, अर्थात् ईश्वर से निकले हैं।

ज्ञान के स्वरूप में प्रविष्ट शब्दों के समूह ही वेद हैं। ऐसा मानने पर भी वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि शब्दों को अनादि नित्य माना है। शब्दों को अनित्य मानने वालों के मत में भी 'पश्यन्ती' वाक् साक्षात् ईश्वर द्वारा

प्रेरित है। सर्वसाधारण के लिए ऋषियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के समूह का नाम वेद है-इसलिए वेद ऋषिप्रणीत है। वेद के निर्माता महर्षिगण ही थे, क्योंकि ईश्वरानुग्रह से ज्ञान प्राप्त कर ऋषियों ने ही मन्त्र एवं ब्राह्मणों की रचना की है।

वाक् शब्द,वेद-शब्द और ऋगादि शब्दों का जो वैज्ञानिक अर्थ है उसमें भी इसी प्रकार तीन भेद होते हैं। अव्यय पुरुष की कलारूप मूलभूत वाक् और उसका विस्तार रूप ऋगादि हैं, अपौरुषेय हैं। वाक् सबकी जननी है उसे कोई उत्पन्न नहीं कर सकता है। वह पुरुष के स्वरूप में प्रविष्ट है, अर्थात् पुरुष-रूप है, इसलिए पौरुषेयी नहीं हो सकती। अव्यय पुरुष ही ईश्वर है, अत: वाक् अथवा ऋगादि वेद ईश्वर-रूप हैं। अव्यय की शक्ति द्वारा क्षर पुरुष की कलाओं का विस्तार होने पर सर्वप्रथम वाङ्मय स्वयम्भूमण्डल प्रादुर्भूत होता है। ऋक्, यजु: साम उस मण्डल के प्राण हैं। वहां से निकल कर फैलते हुए वाक् और वेदों का मुख्य प्रजापति सूर्य में जब प्रवेश होता है, तब वे ईश्वर निर्मित कहे जाते हैं। वैदिक परिभाषा में ये गायत्रीमातृक हैं—क्योंकि सूर्यमण्डल में ही शक्ति रूप से गायत्री विराजमान रहती हैं।

सूर्यमण्डल से ऋगादि वेदरूप प्राण सब जगत् के पदार्थों में व्याप्त होते हैं। ये तीसरे प्रकार के वैज्ञानिक ऋक्, यजु:, साम हैं। इनको ऋषिकृत कहा जा सकता है, क्योंकि वाक् का पहला रूप ऋषिप्राण है। ऋषिप्राणों द्वारा ही ऋगादि वेदरूप प्राणों का जगत् के सभी पदार्थों में विस्तार होता है। इस प्रकार प्राणरूप ऋषि और उनके ज्ञान-वेदज्ञान में बहुत कुछ समानता है।

ऋषियों से भिन्न, मन्त्रों में वक्ता रूप से माने गए-एक और ऋषि हैं, जिनका मन्त्रों में उल्लेख है। ये वाक्य-विचार से समझे जाते हैं। जिस वाक्य का जो वक्ता होता है वह उस वाक्य का ऋषि कहलाता है। वाक्य में जिसका वर्णन रहता है, अथवा जो सम्बोधित होता है, वह उसका देवता कहा जाता है। मन्त्र पूर्ण वाक्यरूप होते हैं। कहीं एक महावाक्य के अवयव होते हैं और कहीं वाक्यों के समुदाय रूप भी होते हैं। जो मन्त्र का उपदेश करता है, वही उस मन्त्र का ऋषि होता है। पूर्व समय में ऋषियों ने ही इन मन्त्रों का उपदेश किया था। इसलिए अवार, पार जानने वाले वक्तारूप ऋषि और द्रष्टारूप ऋषि प्राय: एक ही होते हैं। कहीं-कहीं द्रष्टा ऋषि अपने आप को वक्ता रूप से प्रकट न कर किसी अन्य को वक्ता बना देता है, वहां वक्तारूप से वर्णित व्यक्ति चौथे प्रकार के ऋषि माने जाते हैं।

मन्त्रभेद से ऋषियों का भेद

मन्त्र पांच भागों में विभक्त किए गए हैं—1. भाववृत्त 2. देवस्तव 3. वक्त्रात्मस्तव 4. देवात्मस्तव और 5. किन्हीं दो का संवाद। जिन मन्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति का विषय या क्रम बताया गया, उनको भाववृत्त मन्त्र कहते हैं। जिनमें प्राण रूप देवताओं के स्वरूप या धर्म का निरूपण किया गया, वे मन्त्र देवस्तवात्मक कहे जाते हैं। इन दोनों प्रकार के मन्त्रों के ऋषि वे ही हैं जिन्होंने ईश्वर से ज्ञान प्राप्त कर इन मन्त्रों को प्रकट किया। इन मन्त्रों के द्रष्टा तथा वक्ता एक ही ऋषि हैं। इनमें प्रथम प्रकार के मन्त्रों का देवता सृष्टि विषय

(भाववृत्त) ही माना जाता है। और द्वितीय प्रकार के मन्त्रों का देवता वह प्राणरूप देवता होता है, जिसकी स्तुति हो।

वक्त्रात्मस्तव वे मन्त्र हैं जिनमें कहने वाला (वक्ता) अपनी ही प्रशंसा करता है। इन वक्त्रात्मस्तव मन्त्रों के ऋषि और देवता दोनों एक ही हैं जो मन्त्रों में अपनी स्तुति करते हैं।

चौथे प्रकार के मन्त्र देवात्मस्तव हैं उनमें मन्त्रप्रणेता देवताओं के मुख से वाक्य कहलाता है। इन मन्त्रों के ऋषि और देवता वे ही देवता हैं जो द्रष्टा ऋषि द्वारा वक्ता मान लिए गए हैं। इन मन्त्रों में प्राणरूप देव ही ऋषि हैं और वही देवता।

पांचवां संवादात्मक मन्त्रों में जिन दो का वह संवाद है उन में वक्ता ऋषि और सम्बोध्य देवता हैं। इस प्रकार दोनों ही ऋषि और दोनों ही देवता हैं। एक मन्त्र में वक्ता होने से जो ऋषि है, दूसरे में सम्बोध्य होने से वह देवता हो जाता है। पहले में जो सम्बोध्य होने के कारण देवता था, वह दूसरे मन्त्र में वक्ता होने से ऋषि हो जाता है।

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्। *(ऋक् संहिता 4/57/7)*

इस मन्त्र के वामदेव ऋषि हैं और सीता देवता है। हल द्वारा खुदी हुई रेखा का नाम सीता है। इसमें प्रार्थना की गई है कि वर्षा का अधिष्ठाता इन्द्र जल बरसाए, पूषा देव उन रेखाओं में अन्न बढ़ाए, और यह प्रत्येक सम्वत्सर में हो। सब पदार्थों के अधिष्ठाता देवता पृथक्-पृथक् हैं। उन की स्तुति होती है और वे ही सम्बोधित होते हैं।

अथ प्रजापतेरङ्गिरसः पुत्री दिव्यस्याङ्गिरसस्य भगिनी दक्षिणानाम्नी ऋत्विग्भ्यो दीयमानां दक्षिणां स्तौति। तत्र दक्षिणा ऋषिका, दक्षिणा चान्या देवता

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ *(ऋक् संहिता 10/107/6)*

अर्थात् दक्षिणा देने के कारण, यजमान परोक्षदर्शी ऋषि, ब्रह्मा, यज्ञ का नेतृत्व करने वाला अध्वर्यु तथा सामश्रुति का गायक उद्गाता या स्तुति पाठ करने वाला है, क्योंकि दक्षिणा देकर यजमान सम्पूर्ण कर्मों पर अपना स्वत्व स्थापित कर लेता है। वह प्रदीप्त ज्योति के तीनों रूप—अग्नि, विद्युत् और सूर्य को जान लेता है। यज्ञ की अग्नि के आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि रूपों को जान लेता है, जो कि मुख्य पुरुष दक्षिणा से ऋत्विग् ब्राह्मणों की आराधना कर चुका है। यद्यपि दक्षिणा ही ऋषिरूप और देवतारूप से वर्णित है, किन्तु आत्मस्तवपरक श्रुतियों की तरह दोनों एकरूप नहीं हैं। देवतास्थानीय दक्षिणा द्रव्य रूप है, अर्थात् ऋत्विग् ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा देवता है। प्रजापति अङ्गिरा की पुत्री एवं दिव्य अङ्गिरा की बहन जिसका नाम दक्षिणा है, वह ऋषिका है। व्यक्तिभेद होने से आत्मस्तव नहीं माना जा सकता।

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभि: कल्पस्व साधुया मा न: समरणे वधी:।। *(ऋ. सं. 1/170/2)*

यह संवादात्मक मन्त्र का उदाहरण है। इसमें इन्द्र को सम्बोध्य मानकर अगस्त्य कह रहे हैं कि हे इन्द्र! सब मरुद्गण अदिति के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण तुम्हारे भाई हैं। इसलिए तुम उनके साथ समयोचित व्यवहार करो। यज्ञ के भाग अन्न आदि में उनको भी सम्मिलित करो, अथवा उनसे युद्ध करो। हम निरपराधियों को क्यों मारना चाहते हो? युद्ध में शत्रु की तरह हमको नष्ट मत करो। यहां वक्ता अगस्त्य-ऋषि, और सम्बोध्य इन्द्र देवता हैं।

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नतिमन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ॥ *(ऋक्संहिता, 1/170/3)*

इसमें इन्द्र द्वारा अगस्त्य को कहा गया है कि भाई अगस्त्य! तुम हमारे मित्र होकर भी इस तरह हमारा अपमान क्यों करते हो। हम तुम्हारा विचार जान गए हैं। तुम हमारे लिए कल्पित यज्ञ भाग को दूसरों (मरुतों) को देना चाहते हो। यहां वक्ता इन्द्र ऋषि हैं और सम्बोध्य अगस्त्य देवता।

चतुर्थ प्रकार के ऋषि में कुछ विशेषता होती है। अम्भृण ऋषि की पुत्री का नाम 'वाक्' है। वह त्रिलोकी में व्याप्त वाक् देवता की स्तुति करती है। किन्तु उसे व्यापक वाक् के मुख से ही स्तुति कराई जाती है। अम्भृण ऋषि की पुत्री-स्तुति करने वाली वाक् अपने को व्यापक वाक् से अभिन्न मान लेती है। इसलिए मन्त्रों में 'अहम्' शब्द का अर्थ, व्यापक 'वाक्' ही है।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवै:।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ *(ऋक्संहिता, 10/125/1)*

मैं अर्थात् त्रैलोक्यव्यापिनी वाक्, रुद्र, वसु, सूर्य एवं विश्वदेवों के साथ उन का रूप स्वयं धारण कर उनके लोकों में विचरण करती हूं। मित्र वरुण, इन्द्र, अग्नि एवं दोनों अश्विनीकुमारों का मैं ही धारण और पोषण करती हूं। भाव यह है कि जगत् की मूल कारण परब्रह्मस्वरूपिणी वाक् सदा अलिप्त रह कर जगत् का निर्माण करने में समर्थ है।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति य: प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त अपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत! श्रद्धियं ते वदामि ॥ *(ऋक् संहिता 10/124/4)*

अर्थात् जगत् में जिस शक्ति के आधार पर प्राणी अन्न आदि को पचाता है, द्रष्टव्य वस्तु को देखता है, सुनता है एवं श्वास लेता है-वह वाक् रूपा आदि शक्ति मैं ही हूं। इस प्रकार अन्तर्यामिनी रूप में जो मुझको नहीं पहचानता है, वह अज्ञानी नष्ट हो जाता है। हे बहुश्रुत! मित्रभाव से मैं तुमको उस परब्रह्म ज्योति: स्वरूप का उपदेश करती हूं। जो श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से प्राप्त होता है।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभि:।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ *(ऋक् संहिता 10/125/5)*

अर्थात् मैं स्वयं ही सर्वप्रथम दिव्य ब्रह्म का उपदेश करती हूं, और जिसे चाहती हूं उसे सांसारिक मानवों से अधिक शक्तिशाली, अधिक मेधावी, मन्त्रद्रष्टा ऋषि, यहां तक कि साक्षात् ब्रह्मा (उत्पादक) बना देती हूं।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ *(ऋक् संहिता 10/125/1-8)*

चतुर्थ मन्त्र में कहा है कि-जैसे वायु किसी दूसरे की सहायता लिए बिना ही सम्पूर्ण जगत् में चलता रहता है, वैसे ही किसी की सहायता लिए बिना ही मैं स्वयं चौदह भुवन एवं सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करती हूं। पार्थिव एवं दिव्य सम्पूर्ण ब्रह्मज्योति रूपा मैं ही हूं। यह सब महिमा मेरी है, मैं ही सम्पूर्ण जगत् रूप में प्रकट होती हूं।

सृष्टि के आदि रचयिता ऋषि प्राण रूप हैं। जिन वस्तुओं को हम देखते हैं-उनमें ही धर्मरूप में ये प्राण कार्य कर रहे हैं। किन्तु उन धर्मों के रूपविशेष को हम नहीं देख पाते। मानव ऋषि तप तथा विद्याओं से इन अप्रत्यक्ष तत्त्वरूप ऋषियों का विशेष धर्मों का साक्षात् करके उन्हें व्यावहारिक रूप में जगत् के समक्ष उपस्थित करते हैं। उन धर्मों के साक्षात् द्रष्टा एवं सर्वप्रथम उपदेष्टा ऋषि, ऐसा वर्णन करते थे कि वे 'सिद्धहस्त' 'कवि' कहलाते थे। प्राण पर उनका इतना अधिकार होता था कि तत्त्वमय प्राण के द्वारा, देवता एवं पितरों की आराधना करके वे अभिलषित अर्थ को पूर्ण करते थे। अर्थात् जो कुछ चाहते थे, प्राप्त कर लिया करते थे।

प्राण तत्त्वों के साथ इनकी घनिष्ठता हो जाने से, प्रकट किए गए प्राण तथा द्रष्टा ऋषि एक ही थे। अर्थात् उस प्राण का नाम ही द्रष्टा का नाम हो जाता था।

'प्राणो वै वसिष्ठ:' में भिन्न-भिन्न प्रकार की व्युत्पत्ति से वसिष्ठ आदि शब्दों का मूलतत्त्वरूप प्राण का ही वाचक है। वसिष्ठादि शब्द मुख्यरूप से प्राण के ही वाचक हैं। वसिष्ठ आदि प्राणों का प्रत्यक्ष करने के कारण अथवा उनका प्रथम उपदेश करने के कारण ही मनुष्य-ऋषियों को भी वसिष्ठ आदि कहा गया।

शतपथ ब्राह्मण में कूर्मचिति प्रकरण में कहा गया है कि जो ऋक् एवं यजु: जिस देवता का प्रतिपादन करते हैं, वे स्वयं भी तद् रूप (देवतारूप) हो जाते हैं। इसलिए मधु का प्रतिपादक 'मधुवाता' स्वयं मधुरूप है। इसी दृष्टान्त से मनुष्यों में भी समझना चाहिए। जैसे स्तुति करने से ऋचा या यजु: देवतारूप हो जाते हैं, और उस देवता के नाम से ही कहलाने लगते हैं-वैसे ही जिस देवता की अथवा प्राणरूप ऋषि की मनुष्य ऋषि स्तुति करता है, स्वयं भी तद् रूप होकर उसी के नाम से ख्याति प्राप्त करता है।

उद्भावक ऋषि का नाम ही उद्भावित प्राण का नाम है—इसके कुछ दृष्टान्त दिए जाते हैं। जैसे 'कुमार अग्नि' और 'अप्रतिरथ इन्द्र'। *बृहद्देवता* ग्रन्थ में एक कथा है कि 'कुमार नामक ब्राह्मण बालक त्रैवृष्ण नामक राजा के रथ के पहिए के नीचे पिसकर मर गया था। उस बालक को राजा के पुरोहित ने पुन: जीवित किया

था। वह बालक आगे चलकर बहुत बड़ा ऋषि हुआ। उसने एक नए प्रकार के अग्नितत्त्व के विशेष गुण-धर्मों का प्रत्यक्ष किया था। इसलिए वह ऋषि 'कुमाराग्नि' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। कुमाराग्नि ८ प्रकार का है एवं यही पशुपति कहलाता है।'

कहीं-कहीं उद्भावक ऋषि और उद्भावित प्राण के समान नाम नहीं भी होते हैं-जैसा कि 'अजान् ह वै' आदि मन्त्र में विश्वामित्र के गोत्र में अथवा अन्यत्र उत्पन्न अज और पृश्नि नाम के ऋषियों का मन्त्रद्रष्टा रूप में उल्लेख है। इनके द्वारा देखे गए अनेक मन्त्र भी संहिता में मिलते हैं। बहुत जगह तो उद्भावक-द्रष्टा ऋषि और उसके द्वारा उद्भावित प्राण एक ही नाम से कहे गए हैं। वसिष्ठ आदि प्राणों की वे अपनी आत्मा में प्रतिष्ठा पा लेते हैं। तब उनकी आत्मा ही वसिष्ठ प्राणमय होने से वसिष्ठ हो जाती है। वैदिक सिद्धान्त में प्राणियों में चार प्रकार के आध्यात्मिक ग्राम (समूह) माने गए हैं। इनके नाम क्रमश: आत्मग्राम, प्राणग्राम, भूतग्राम और पशुग्राम हैं। प्राणग्राम में यद्यपि सब प्रकार के ऋषि प्राणों की स्थिति है, किन्तु मनुष्य जब वसिष्ठ प्राण की आराधना करता है तो उसमें वसिष्ठप्राण अधिक बढ़ जाता है। अधिकता के कारण वह अङ्गी-प्रधान बन जाता है, तभी वह व्यक्ति वसिष्ठ कहलाता है।

स्मृति में यह भी कहा गया है कि पुरुष श्रद्धामय होता है-इसलिए जो जिसमें श्रद्धा रखता है तद्रूप हो जाता है। जिस पुरुष की वसिष्ठ प्राण में अधिक श्रद्धा है-वह वसिष्ठमय हो जाता है।

प्राचीन काल में भारत में भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, मत्स्य, वसिष्ठ, अगस्त्य, कश्यप एवं कौशिक आदि प्रसिद्ध पारदर्शी विद्वान् हुए थे। वे ही हमारे वेदों के प्रवर्तक अथवा वेदों के आचार्य ऋषि माने जाते हैं।

प्रधान सम्पादक,
राजस्थान पत्रिका समूह,
केशरगढ, जयपुर (राजस्थान)

वैदिक साहित्य में ईश्वर-जीव-सम्बन्ध

डॉ. चन्द्रकान्ता राय

विशाल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति अपने आप में एक गम्भसीर रहस्य है जिसकी गवेषणा में भारत वर्ष के ऋषि-मनीषी सृष्टि के आरम्भकाल से लगे हुए हैं। परमेश्वर के नि:श्वासभूत *ऋग्वेद* के हिरण्यगर्भसूक्त, पुरुषसूक्त, वाक्-सूक्त तथा नासदीयसूक्तों, *अथर्ववेद* के काल-काम-स्कम्भ-व्रात्य-उच्छिष्ट सूक्तों में परात्पर ब्रह्म की लोककालानवच्छिन्न अपरिमित शक्ति तथा सामर्थ्य का प्रकाशन हुआ है जिसका बोध जिज्ञासा एवं श्रद्धा के साथ अनवरत ध्यानरत तपस्वी साधक प्राप्त कर पाते हैं। वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थ लोक तथा ब्रह्म के सम्बन्धों, जीव और ईश्वर के स्वरूप मानव जीवन के चरम साध्य इत्यादि विषयों का विवेचन करते रहे हैं। वैदिक परम्परा में आस्था रखने वाले आचार्यों, चिन्तकों, महात्माओं ने अपनी व्याख्याओं, टीकाओं, व्याख्यानों के माध्यम से पुन: पुन: मानवदृष्टि को यथार्थ का दर्शन कराने हेतु आजीवन साधना की है। प्राच्य ज्ञान की यह परम्परा समस्त विश्व को चकित करने वाली है जिसके प्रभाव में आकर मैक्समूलर, मैक्डॉनल, टी. एच. ग्रिफिथ, ब्लूमफील्ड, रुडाल्फ रॉथ, डॉ. थीवो इत्यादि ने वैदिक वाङ्मय को समझने में अपना जीवन समर्पित कर दिया है। लोक में धर्म, अर्थ और काम की उपलब्धि का उचित मार्ग बताने के साथ यह विद्या जीवन के चरमार्थ की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है जो परम आनन्द, परम शान्ति का धाम है। जीवन की चरमार्थ भवबन्धन से मुक्ति है। इस मुक्ति का अधिगम आत्मस्वरूप अर्थात् सत्-चित्-आनन्दस्वरूप की अनुभूति से सम्भव है। परमात्मभाव की अनुभूति अध्यात्मयोग के मार्ग से साध्य है जो पाञ्चभौतिक शरीर में आश्रय लिए हुए शुद्धात्मा और भोगासक्त जीवात्मा की वृत्तियों का ज्ञान प्रदान करता है। इसलिए *कठोपनिषद्* में नचिकेता को उपदेश देते हुए धर्मराज यम ने कहा है—

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति। (क. 1/3/1)

तथा—

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।। (क. 1/2/12**)**

महर्षि वादरायण व्यास ने *ब्रह्मसूत्र* में ईश्वर और जीव के सम्बन्ध के विषय में इस प्रकार विचार किया है—

1. जीव ईश्वर का अंश है।
2. ईश्वर बिम्ब और जीव उसका प्रतिबिम्ब है।
3. जीव ईश्वर से पृथक् कोई वस्तु नहीं। ईश्वर ही छोटी उपाधियों से परिच्छिन्न होकर 'जीव' संज्ञा को प्राप्त हो जाता है।

यह सम्बन्ध निम्नाङ्कित बिन्दुओं से विचारणीय है—

1. अंशाशिभावसम्बन्ध

लोक में अवयवों से अवयवी की अवधारणा होती है। जैसे तन्तुओं से पट, वृक्षों से वन, मनुष्यों से समाज, सैनिकों से सेना की स्थिति होती है। उसी प्रकार अंशों से अंशी की अवधारणा होती है। किन्तु ईश्वर-जीव-सम्बन्ध में इस प्रक्रिया का क्रम विपरीत है। अंशी ईश्वर पूर्व में विद्यमान है, उससे जीव प्रादुर्भूत होते हैं। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्निमण्डल से स्फुलिङ्ग छिटकते हैं और पृथक्-पृथक् वस्तुओं को अपना केन्द्र बनाकर जलने लगते हैं। उसी प्रकार अंशी ईश्वर से असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं। स्फुलिङ्गों के छिटकने के बाद अग्नि ज्वाला धीरे-धीरे उपशमित हो सकती है किन्तु अंशी ईश्वर में कोई क्षीणता या अल्पता नहीं आती। श्रुति कहती है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते।

2. बिम्बप्रतिबिम्बभावसम्बन्ध

और जीव उसका प्रतिबिम्ब है जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब जल या दर्पण में पड़ता है और वह वहाँ पर अपना केन्द्र बनाकर चमकने लगता है। लोक में यद्यपि रूपवान् पदार्थ का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है, ईश्वर तो नीरूप, निराकार है अतएव प्रश्न हो सकता है कि निराकार का प्रतिबिम्ब कैसे बनता है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि रात्रि में किसी स्वच्छ सरोवर में आकाशस्थित तारामण्डल का प्रतिबिम्ब दीखता है। जलाशय में पृथक्-पृथक् तारों के मध्य स्थित अन्तर अथवा अवकाश भी दिखलाई देता है, जो निराकार तथा नीरूप है। इसी प्रकार जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब समझना चाहिए यद्यपि इस उदाहरण में यह विसंगति है कि तारों के साथ स्थिति उनके मध्यवर्ती आकाश का प्रतिबिम्बभाव होता है किन्तु ईश्वर स्वतन्त्र है। जीव के रूप में उसके प्रतिबिम्बन के लिए किसी के साथ की अपेक्षा नहीं होती।

3. अवच्छेदवाद

इस सम्बन्ध को भी दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है। आकाश स्वरूप से अनन्त है। किन्तु एक गृह का निर्माण होने पर आकाश का कुछ भाग गृह की परिधि में आ जाता है, तब महाकाश का उतने परिमाण का भाग उससे अलग हुआ-सा प्रतीत होता है। उसी प्रकार उपाधियों के घेरे में आकर ईश्वर का जीवभाव हो

जाता है यद्यपि महाकाश की ही तरह ईश्वर का भी कोई भाग क्षीण नहीं होता। इस उदाहरण में कथित आकाश यद्यपि घर के आयतन में आ जाने पर भी निर्लिप्त रहता है, विषय-सन्निकर्ष अथवा छन्दों से प्रभावित नहीं होता, किन्तु जीव सुख-दु:ख का अनुभव करने लगता है।

ईश्वर समष्टि तथा जीव व्यष्टिरूप है। वैदिक विज्ञान में 'जीव' शब्द से सभी जड़चेतन लिए जाते हैं। जड़ता और चेतना तो अवस्थामात्र है। स्थूल प्रपञ्च की अवस्था में ईश्वर को विराट् और जीव को विश्व कहा गया है—

तस्माद् विराडजायत .... *(ऋग्वेद, 10/90/5)*

तथा—

ततो विश्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि। *(ऋग्वेद, 10/20/4)*

प्रत्येक पदार्थ व्यष्टि और ईश्वर समष्टि है। वह प्रजापति परमात्मा उत्पन्न न होता हुआ भी जीवस्थ में सभी शरीरों में प्रवेश करता है—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। *(कठोपनिषद्, 1/2/22)*

श्वेताश्वतर उपनिषद् का मन्त्र अवलोकनीय है—

नील: पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतव: समुद्रा:।
अन्तदिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा।। *(श्वेताश्वतर उपनिषद्, 4/4)*

अर्थात् हे ईश्वर, तू ही नीलवर्ण पतङ्ग (भ्रमर) है, हरितवर्ण तथा लोहितनेत्र पक्षी है, तू ही मेघ, ऋतुएँ तथा समुद्र है क्योंकि तुमसे ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं। तू अनादि प्रकृतियों का स्वामी है तथा व्यापक रूप से सबमें विद्यमान है।

स्वप्रेरित माया से परमेश्वर स्वयं ही कार्य-कारणात्मक जगत् बन जाता है। वह अजन्मा होकर भी सर्वगत तथा सर्वत्र व्याप्त है। श्वेताश्वतर उपनिषद् से पुन: उद्धृत है—

वेदाहमेतमजरं पुराणं
सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।। *(श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3/21)*

किसी विशेष प्रयोजन से परमेश्वर अपनी विविध प्रकार की शक्तियों के सम्बन्ध से स्वयं रङ्गरूपरहित होकर भी अनेक रूप-रङ्ग धारण कर लेता है तथा अन्त में समस्त ब्रह्माण्ड उसी में विलीन हो जाता है (*श्वेताश्वर उपनिषद्,* 4/1)। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से हजारों स्फुलिङ्ग प्रकट होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर परमेश्वर से नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल में पुन: उसी में विलीन हो जाते हैं—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गा:
सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:।
तथाक्षराद् विविधा: साम्य भावा:
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।। *(मुण्डकोपनिषद्, 2/1/1)*

प्रश्नोपनिषद् में सृजनकर्म के आरम्भ में उस सिसृक्षा द्वारा सर्वप्रथम प्राण की संरचना का उल्लेख है। प्राण की सृष्टि के बाद उसने श्रद्धा का तथा उसके बाद क्रमश: आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी का सृजन किया। इन पञ्च महाभूतों का कार्यरूप यह संसार है। परमेश्वर की लीला का वितान है यह विश्व। इसके अन्त: बाह्य समग्र आयतन में वह व्याप्त है। प्राणियों के प्रत्यक्ष-परोक्ष कर्मों का साक्षी बन वह कर्मानुसार चराचर की व्यवस्था करता है—**कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भूर्याथातथ्योऽर्थान् व्यघात् शाश्वतीभ्य: समाभ्य:** (*ईशावास्योपनिषद्,* 8) जैसे घट मृत्तिका के आधार से तथा पट तन्तुओं के आधार से अस्तित्व में रहता है, उसी प्रकार यह कार्यकारणात्मक सम्पूर्ण जगत् परम कारण रूप परमात्मा के आधार से अवस्थित है। भूत, वर्तमान, भविष्य सभी को उसी ने व्याप्त किया है। हिरण्यगर्भसूक्त के अन्तिम मन्त्र का आद्य अर्द्धांश ध्यातव्य है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो
विश्वा जातानि परिता बभूव। *(ऋग्वेद, 10/121/10)*

जिस प्रकार हमारे शरीर का अभिमानी जीव है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व का एक अभिमानी आत्मा वह प्रजापति परमेष्ठी है। अजायमान होकर भी कार्यकारणरूप अपनी माया द्वारा वह प्रपञ्च रूप से बहुधा उत्पन्न होता है। धीरपुरुष उसके कारणात्मक स्वरूप का अनुभव करते हैं। शुक्लयजुर्वेद का मन्त्र उद्धृत है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।। *(शुक्लयजुर्वेद, 31/19)*

विश्वात्मा परमेश्वर नि:सीम है। उससे व्याप्त जगत् ससीम है। मनुष्य की इन्द्रियों और बुद्धि उस नि:सीम को सर्वतोभावेन माप नहीं सकती, उसकी महिमा का आकलन नहीं कर सकती। उस अपरिमेय का एक चतुर्थांश यह जगत् है, तीन चतुर्थांश मानव की ग्रहणशक्ति से परे है। शास्त्र 'नेति नेति' करके उसकी विलक्षणता का संकेत करते हैं किन्तु उस अनिर्वचनीय का स्वरूप प्रकाशित नहीं कर पाते।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। *(ऋग्वेद, 10/90/3)*

ऋग्वेद का पुरुष सूक्त इस प्रकार उसकी वर्णनशक्ति से परे महिमा का सङ्केत करता है। नासदीयसूक्त भी उसके स्वरूपज्ञान के विषय में असमर्थता का प्रतिपादन करता है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव।। *(ऋग्वेद, 10/129/6)*

इसी प्रकार इस सूक्त का अग्रिम मन्त्र देवशक्ति के लिए भी दुर्गभ उस परमात्मा के स्वरूपज्ञान एवं कर्मरहस्य के प्रकरण में अनिश्चयता का निरूपण करता है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्गवेद यदि वा न वेद।। *(ऋग्वेद, 10/129/7)*

अपने शरीर को नीचे की अरणि तथा प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के निरन्तर अभ्यास से निगूढ अग्नि की भाँति गुप्त परमदेव के दर्शन की बात उपनिषदों में कही गयी है तथा भोक्ता, भोग्य एवं इनके प्रेरक ईश्वर रूप त्रिविध ब्रह्म के परिज्ञान के बाद कुछ भी वेदितव्य शेष नहीं रह जाता—यह उद्घोष किया गया है (*श्वेता. उप.* 1/12,14) किन्तु छुरे की तीक्ष्ण धार की भाँति दुर्गम ध्यान अर्थात् अध्यात्मयोग के मार्ग पर चलकर भी उसकी महिमा का पार नहीं पाया जा सकता। *कठोपनिषद्* 'क इत्था वेद यन्त्र सः' (1/2/25) कहकर उसके स्वरूप और अधिष्ठान की अपरिज्ञेयता का निर्देश करती है। इसलिए *ईशोपनिषद्* में सबके पोषणकर्ता देव से सत्यधर्मा परमेश्वर के दर्शन के लिए जागतिक आवरण के निराकरण हेतु प्रार्थना की गयी है (मन्त्र 15) तथा तेजोमय अग्निदेव से उस परम धन की अवाप्ति के लिए कल्याण के मार्ग को प्रकाशित करने की प्रार्थना की गयी है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।। *(मन्त्र, 18)*

एसोसिएट प्रोफेसर/अध्यक्ष
संस्कृत विभाग,
आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी।

वेदों में दार्शनिक तत्त्व

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

जिस शास्त्र मे सत्य के दर्शन प्रस्फुरित हुए हैं वही दर्शन है तथा दर्शन का प्रतिपाद्य लक्ष्य भी। सत्य के अन्वेषण की परम्परा के कारण ही दार्शनिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। मनुष्य सांसारिक भोगों, सुख-दुखों के चक्र से बाहर निकल कर जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर केवल आनन्द में रहना रहना चाहता है। इसके लिए वह बाह्य दृष्टि नहीं बल्कि आन्तर दृष्टि का आश्रय लेता है। आन्तरिक दृष्टि का व्यवहार ही दर्शन है। इस दृष्टि द्वारा वह जीव परमात्मतत्त्व, विद्या, अविद्या, सूक्ष्म तत्त्वों को जानना चाहता है। जीव की इसी प्रवृत्ति से दर्शन का उद्‌गम होता।

दर्शन शब्द दृशिर् धातु से ल्युट् (अन) प्रत्यय करके बनता है। 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् वह शास्त्र विद्या या विधि जिससे गूढ़, रहस्यात्मक अव्यक्त एवं व्यक्त तत्त्वों को प्रत्यक्ष किया जाय उसे दर्शन कहते हैं। यह दर्शन क्रिया चक्षु द्वारा निष्पन्न होती है। स्थूल चक्षु द्वारा स्थूल पदार्थों को तथा दिव्य ज्ञान चक्षु द्वारा दिव्य पदार्थों को देखा जा सकता है। दिव्य ज्ञान चक्षुओं के द्वारा जब उस परमतत्त्व का साक्षात्कार होने लगता है तो समस्त संशयों, दुखों की निवृत्ति होकर परम सुख आनन्द की अनुभूति होने लगती है। *मुण्डकोपनिषद्* में कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रान्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (*मुण्डकोपनिषद्*, 2.2.8)

दर्शन शास्त्र बहुउद्‌देशीय शास्त्र है जिसमें जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इसमें ब्रह्म, ईश्वर, जीवात्मा, देवों के गुण-कर्म, मन एवं बुद्धि के क्रियाकलाप, कर्म मीमांसा, सृष्टि की उत्पत्ति, लोक परलोक, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, पंचमहाभूतों की उत्पत्ति, जीवन-मृत्यु, संसार के सुखात्मक-दुःखात्मक स्वरूप, मोक्ष प्राप्ति के साधन आदि का विवेचन होता है। भारतीय दर्शन मुख्य रूप से षड् दर्शनों में वर्णित है। (1) न्याय दर्शन (2) वैशेषिक दर्शन (3) सांख्य दर्शन (4) योग्य दर्शन (5) मीमांसा दर्शन (6) वेदान्त दर्शन।

भारतीय साहित्य में 'मीमांसा' शब्द के श्रवण से दर्शन विशेष का बोध होता है। मीमांसा शब्द का अर्थ है पूजित जिज्ञासा। मीमांसा शास्त्र को विचारशास्त्र भी कहा जाता है। विषय भेद के कारण यह शास्त्र दो भागों

में विभक्त हैं। पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा। उत्तरमीमांसा ब्रह्मसूत्र तथा वेदान्त भी कहलाता है इसीलिए मीमांसा शास्त्र द्वारा सामान्यतः 'पूर्वमीमांसा' का ही ग्रहण होता है। पूर्वमीमांसासूत्र के प्रणेता महर्षि जैमिनि है। वैदिक कर्मकाण्ड को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठापित करने का श्रेय मीमांसा दर्शन को ही है।

उत्तरमीमांसा के सूत्रकार महर्षि बादरायण व्यास जी हैं। उत्तर-मीमांसा का 'ब्रह्म' ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है- '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' (ब्रह्मसूत्र-111) इसीलिए उत्तरमीमांसा को 'ब्रह्मसूत्र' भी कहा जाता है। वेदों का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति है। उसी ब्रह्म का निरूपण '*ब्रह्मसूत्र*' ग्रन्थ में है। वेद का उत्कर्ष गान होने से इसे 'वेदान्त' भी कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र के 10 भाष्यकार हैं, इनमें विशेष प्रसिद्ध आचार्य हैं—(1) शंकराचार्य—ये अद्वैत (निर्विशेषाद्वैत) मत के प्रतिपादक हैं। (2) रामानुजाचार्य—ये विशिष्टाद्वैत मत के प्रतिपादक हैं। (3) मध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ)—ये द्वैतमत के प्रतिपादक हैं।

वेदान्तदर्शन में ब्रह्मतत्त्व का निरूपण बड़े विस्तार से हुआ है। माया, अविद्या, आत्मा, मोक्ष आदि विषयों का निरूपण भी प्रधान प्रतिपाद्य के रूप में हुआ है। यह संसार मायारूप, भंगुर तथा अनित्य है। आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं। ब्रह्म निर्विकार ,निरुपाधि ,निर्गुण निर्विकल्प है। माया परमेश्वर की बीज शक्ति है।

यह त्रिगुणात्मक अविद्यारूप भाव पदार्थ है। अविद्या के आवरण के कारण ही ब्रह्म से त्रिगुणात्मक जगत् की सृष्टि होती है। ब्रह्म ही जगत् के उपादान का कारण है। आत्मा स्वयंसिद्ध, ज्ञानरूप और अद्वैत है॥

भारतीय दर्शन के चार सोपान हैं- प्रथम सोपान वैदिक संहिताएँ हैं। ये दर्शनशास्त्र के उत्स (मूलस्रोत) हैं। द्वितीय सोपान ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इसमें ब्रह्म, परमात्मा, जीवात्मा, सृष्टि आदि के दार्शनिक रूपों का विस्तृत विवेचन है। तृतीय सोपान उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इनमें दार्शनिक तत्त्वों का विशद वर्णन है। चतुर्थ सोपान में-सांख्य योग, न्याय वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शन हैं। इसमें दर्शनशास्त्र के किसी एक अंग का साङ्गोपाङ्ग वर्णन एवं विवेचन है।

ऋग्वेद के अनेक सूत्रों में दार्शनिक विषयों का विवेचन है—विष्णुसूक्त, पुरुषसूक्त, वाक्सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, नासदीयसूक्त, श्रद्धासूक्त, अस्यवामीयसूक्त, भाववृत्तसूक्त, संज्ञानसूक्त।

यजुर्वेद के अनेक अध्यायों में दार्शनिक विषयों का विवेचन है—पुरुषसूक्त, शिवसंकल्पसूक्त, शान्तिसूक्त, रुद्राध्याय, ईशोपनिषद्।

अथर्ववेद में दार्शनिक विषयों का सबसे अधिक विवेचन है। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें आध्यात्मिक विषयों का अधिक विवेचन है। इसमें ब्रह्मविद्या, आध्यात्म, मधुविद्या, काम, कालसूक्त प्रमुख हैं।

वेदों में जिन दार्शनिक संकेतों की विद्यमानता है उनसे एक स्वतन्त्र दर्शन का प्राकट्य हुआ उसी को श्रुति दर्शन या वैदिक दर्शन कहा जाता है। वैदिक साहित्य में वे सभी प्रमुख विचार विद्यमान हैं, जिनका विकास दर्शनशास्त्र में हुआ है, इसीलिए निश्चयेन कहा जा सकता है कि आस्तिक दर्शनों की मूल श्रुति है। भारतीय दर्शन का मौलिक भेद यह है कि पाश्चात्य दर्शन ने बौद्धिक चिन्तन को प्रधानता दी है जबकि भारतीय दर्शन में आत्मसाक्षात्कार को प्रधान विषय माना गया है। श्रुति और तर्क इस ज्ञान के साधन हैं। वेद को अपौरुषेय मानकर उसे आगम कोटि में माना गया है। भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र है '**आत्मानं विद्धि**' तथा लक्ष्य है- दुःखत्रय का आत्यन्तिक नाश एवं परमानन्द की प्राप्ति। श्रवण, मनन और निदिध्यासन इस लक्ष्य प्राप्ति के साधन हैं।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(वृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.5)

वेद में सर्वप्रथम दार्शनिक तत्त्वों का दिग्दर्शन होता है-

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ *(ऋग्वेद, 10.129.1)*

आरम्भ में न तो असत् था न सत्। न तो दिन था न रात। सबसे पहले काम उत्पन्न हुआ और इसी की अभिव्यक्ति सृष्टि के नाना रूपों में प्रतिबिम्बित होती है। सृष्टि के पूर्व एक ही तत्त्व था, जो हवा के बिना भी सांस लेता हुआ अपनी स्वधा शक्ति से जीवित था -

अनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ *(ऋग्वेद, 10.129.2)*

कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। *(ऋग्वेद, 10.129.6)*

कौन इस रहस्य को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण बता सकता है। यह सृष्टि किस उपादन कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर उत्पन्न हुई है।

पुरुषसूक्त अपनी दार्शनिकता, महनीयता, गम्भीरता एवं अन्तर्दृष्टि के लिए अन्यतम है, जिसमें सर्वेश्वरवाद की मौलिक अवधारणा प्रस्फुटित हुई है। पुरुष की आध्यात्म कल्पना का भय निदर्शन इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही दर्शनीय है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ *(ऋग्वेद, 10.90.1)*

पुरुष के इस व्यापक, निस्सीम रूप के एक चतुर्थांश में भूलोक के सम्पूर्ण चराचर हैं, उसका अविनश्वर अमृत त्रिपाद ऊर्ध्वलोक में है। यह पुरुष ही भूत वर्तमान एवं भविष्य सर्वस्व है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। *(ऋग्वेद, 10.90.2)*

हिरण्यगर्भ सूक्त के मन्त्रों का अन्तिम चरण—**'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** ऋषियों के अध्यात्म कुतुहल की चरम परिणति है। हिरण्यगर्भ ही सृष्टि के आदि में विद्यमान था। इसी ने द्युलोक, पृथिवी तथा अन्तरिक्षलोक को धारण कर रखा है—

हिरण्यगर्भः समवर्ततााग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ *(ऋग्वेद, 10.121.1)*

परमात्मा का वह हिरण्यगर्भ रूप सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व उत्पन्न हुआ था। उत्पन्न होते ही वह समस्त प्राणियों का एकमात्र स्वामी हो गया उसने ही पृथिवी और द्युलोक को धारण कर रखा है। उसके अतिरिक्त हम किस देवता के लिए अपने हवि का विधान करें। अर्थात् उस हिरण्यगर्भ का ही हम अपनी हवि द्वारा पूजन करते हैं।

यजुर्वेद के 34वें अध्याय में वर्णित शिवसंकल्पसूक्त में मानस शक्ति की विलक्षणता का सुन्दर निदर्शन होता है। मन के द्वारा ही प्रमेय तथा ध्रुव सत्य का बोध सम्भव है—'मनसेवानुद्रष्टव्यम् एतदप्रमेयं ध्रुवम्।' इस मन को प्रकृष्ट ज्ञान, चेतना व धारणा के नाम से व्यपदिष्ट किया जाता है। इसके बिना किसी कर्म में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसमें ही ऋग्, यजु तथा साम सुप्रतिष्ठित हैं अतएव मन को शिवसंकल्पों से युक्त करना चाहिए।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ *(शुक्ल यजुर्वेद, 34.1)*

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चितं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ *(शुक्ल यजुर्वेद, 34.5)*

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में ही दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन प्राप्त होता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर,
आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी।

गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना का वैज्ञानिक रहस्य

प्रोफेसर (डॉ.) गणेशीलाल सुथार

वेदमन्त्रों में जिन मन्त्रों को मानवमात्र के कल्याण तथा अनिष्ट-निवारण के लिए प्रतिदिन जपनीय और अभ्यसनीय माना है, उनमें गायत्रीमन्त्र का प्रमुख स्थान है। प्राचीनकाल में समस्त त्रैवर्णिक इस मन्त्र द्वारा प्रतिदिन नियमत: सन्ध्योपासना किया करते थे। आधुनिक काल में मानव दु:खत्रय से पीड़ित होने पर भी आध्यात्मिक साधना की अपेक्षा भौतिक प्रगति के लक्ष्यों की साधना में अधिक आसक्त रहता है। अत: कुछ ही लोग गायत्री-मन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना नियमित रूप से करते हैं और वे इतना ही समझते हैं कि इस मन्त्र में सूर्यदेव को हमारी बुद्धि को प्रेरित करने के लिए प्रार्थना है। ग्रामीण और अशिक्षित लोग तो समझते ही नहीं कि सन्ध्योपासना क्या होती है? उपनगरों और नगरों में भी न्यूनाधिक रूप से यही स्थिति है। जो शिक्षित लोग *श्रीमद्भगवद्गीता* का प्रतिदिन पाठ करते हैं, उनको यह ज्ञात हो सकता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने—

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकर:।। (10/35)

इस श्लोक में गायत्री छन्दोविशिष्ट ऋग्वेदमन्त्रों में गायत्रीमन्त्र को अपना स्वरूप बतलाया है। अत: उन्हें गायत्री मन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना के लिए प्रेरित और प्रवृत्त होना चाहिए।

यह उल्लेखनीय है कि वैदिक वाङ्मय में गायत्री शब्द सामान्यतया तो एक वैदिक छन्द के लिए प्रयुक्त होता है। महामहोपदेशक विद्यावाचस्पति समीक्षाचक्रवर्ती पण्डित मधुसूदन ओझा (मैथिल) ने *छन्द:समीक्षा* नामक विलक्षण संस्कृत-ग्रन्थ में छन्द:शास्त्र नामक वेदाङ्ग का जो वैज्ञानिक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और सर्वाङ्गीण विवेचन किया है, वह उनके दिव्य आर्षज्ञान का उत्कृष्ट निदर्शन है। उनके अनुसार वैदिक छन्द के पाँच मुख्य विभागों में बृहच्छन्द नामक विभाग के अन्तर्गत सात छन्द हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती। उनके अनुसार गायत्री छन्द का लक्षण है—चतुर्विंशत्यक्षरावच्छिन्नत्वम्। गायत्री छन्द में कहीं एक अक्षर न्यून अथवा अधिक होने पर भी दोषप्रसक्ति का खण्डन करते हुए कहा है—**"चतुर्विंशत्य-क्षरावच्छिन्नत्वं लक्षणमित्येव सिद्धान्तपक्ष:।"** (*छन्दसमीक्षा, पृ.)*

जहाँ तक **"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न: प्रचोदयात्"** (*ऋग्वेद* 3/62/10) इस गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना के रहस्य का प्रश्न है, गायत्र्युपासक जनसामान्य को तो वह बिल्कुल ज्ञात नहीं है। यहाँ तक कि वेद के अध्येता विद्वानों को भी प्राय: उसका सामान्य शब्दार्थ ही ज्ञात है। वैदिक, पौराणिक

तथा स्मार्त वाङ्मय में गायत्रीमन्त्र का महत्त्व बतलाया गया है, परन्तु वह गवेषणीय है। *शतपथ ब्राह्मण* की निम्नोद्धृत कण्डिका में पृथिवी को गायत्री कहा है—"देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः प्रस्पृधिरे। तान् स्पर्धमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्र्यासीत्—इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ। त उभय एव विदाञ्चक्रुः—यतरान् वै न इयमुपावर्त्स्यति, ते भविष्यन्तिः, परेतरे भविष्यन्ति इति। तामुभय एवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरे। अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरक्षा इत्यसुररक्षसामसुराणाम्।। (1.3.34)

प्राचीन इतिहास (महाभारत) तथा पुराणशास्त्ररूपी पंचम वेद के आधुनिक मूर्धन्य रहस्यवेत्ता पण्डित अनन्त शर्मा ने कहा है कि महान् वेदज्ञ श्री सत्यव्रत सामश्रमी इस मन्त्र की सायणाचार्य-कृत व्याख्या को अवैदिक कहकर उपेक्षणीय बताते हैं। वे आगे कहते हैं कि शतपथ के इस मन्त्र की व्याख्या में "इयं वै सा पृथिवी" अंश के स्पष्टीकरण में आचार्य सायण ने कहा है—"युक्तं चैतत्-मेरोरग्रभागे ह्यमरावती नाम नगरी, तस्यां हि देवाः तथा मेरोरधस्ताद् भागे च यदिरामुखं नाम नगरम्, तस्मिन् ह्यसुरा निवसन्ति। तयोर्मध्ये पृथिवी वर्तते इति 'ह' शब्दयोगादस्ति शास्त्रप्रसिद्धिः।

पण्डित अनन्त शर्मा के अनुसार यह प्रतीत होता है कि भौम (पृथिवीस्थ) त्रिलोकी मानने पर इसकी सायण-कृत व्याख्या उपपन्न (युक्तिसंगत) हो जाती है। गायत्रीमन्त्र के त्राणकर्तृत्व रूप साम्य से पृथिवी को गायत्री माना है।[1]

छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय 3, खण्ड 12) में संक्षेपतः गायत्रीमन्त्र की महिमा प्रतिपादित की गई है। आचार्य शङ्कर इस द्वादश खण्ड के भाष्य की भूमिका में कहते हैं कि गायत्री द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया जाता है, क्योंकि 'नेति नेति' इत्यादि प्रकार से विशेषों के प्रतिषेध द्वारा (via negativa) अनुभूत होने वाला सर्वविशेषरहित ब्रह्म कठिनता से समझ में आने वाला है। अनेक छन्दों के रहते हुए भी प्रधानता के कारण गायत्री का ही ब्रह्मज्ञान के द्वारा रूप से ग्रहण किया जाता है। 1. सोमाहरण करने से, 2. अन्य छन्दों के अक्षरों को लाने से, 3. इतर छन्दों में व्याप्त होने से और 4. सभी सवनों में व्यापक होने से यज्ञ में गायत्री की प्रधानता है। ब्राह्मण (वेदाध्यायी और ब्रह्मविद्) का सार गायत्री ही है, अतः यह यथोक्त ब्रह्म भी माता की तरह गुरुतरा गायत्री को छोड़कर उससे उत्कृष्ट किसी अन्य आलम्बन को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसमें लोक का अत्यन्त गौरव प्रसिद्ध है।

छान्दोग्योपनिषद् के इस बारहवें खण्ड के प्रथम मन्त्र में कहा है कि गायत्री ही ये सब भूत (प्राणिवर्ग) है। जो कुछ भी ये स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे गायत्री हैं। वाक् ही गायत्री है और वाक् ही ये सब प्राणी हैं, क्योंकि यही गायत्री उनका गान (नामोच्चारण) करती है और उनकी (भयादि से) रक्षा करती है। आचार्य

1. *महाभारतीय युद्धोत्तर भारत की ऐतिहासिक काल-गणना* — पण्डित अनन्त शर्मा, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, 2016, पृ. 244-245

शङ्कर इस मन्त्र के भाष्य में शङ्कासमाधानपूर्वक कहते हैं कि गायत्री तो केवल छन्द:स्वरूपा है, उसकी सर्वभूतस्वरूपता असम्भव है, अत: 'वाग्वै गायत्री' ऐसा कहकर श्रुति गायत्री की कारणभूता शब्दरूप वाक् को ही गायत्री कहती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि वाचिक कर्म-कलाप की मूलभूत व्याकृता (ऐन्द्री) वाक् का निरूपण निम्नलिखित मन्त्र में प्राप्त होता है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वा: पशवा मनुष्या:।
वाचीमा विश्वा भूतान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी।।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण 2/8/8/4)

मनुष्य जिस वाक् का प्रयोग करते हैं, जिस प्रयुक्त वाक् में अकार-ककारादि वर्ण प्रविभक्त ज्ञात होते हैं, वही चौथी व्याकृता वाक् है, जिसे 'ऐन्द्री' कहा है। वेदविज्ञान के अनुसार यह मन्त्र शब्दप्रपञ्चमूला सृष्टि की कारण व्याकृता वाक् और अर्थप्रपञ्चमूला सृष्टि (विकार क्षर) की कारण वाक् (आत्मक्षर) दोनों के पक्ष में घटित होता है।

आचार्य शङ्कर ने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है कि वाक् ही यह सब भूतसमुदाय है; क्योंकि शब्दरूप हुई वाक् ही समस्त भूतों का गान=नामोच्चारण करती है, जैसे—'यह गौ', 'यह अश्व' इत्यादि, तथा यही त्राण=रक्षा करती है, जैसे—'इससे मत डरो', 'क्या तुझे भय उत्पन्न हुआ है?' इत्यादि वाक्यों द्वारा सब ओर से भय से निवृत्त किये जाने पर वाणी के ही द्वारा मनुष्य की रक्षा की जाती है। इस प्रकार वाणी के द्वारा प्राणियों का गान और त्राण गायत्री के द्वारा ही गान और त्राण है, गायत्री वाणी से अभिन्न है। गान (नामोल्लेख) और त्राण के कारण गायत्री का गायत्रीत्व (गायत्रीस्वरूप) है।

आगे द्वितीय मन्त्र में गायत्री को पृथिवीस्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि इसी (पृथिवी) में ही ये सब भूत स्थित है और इसी में सब भूत (स्थावर-जंगम) प्रतिष्ठित हैं तथा वे इस पृथिवी का अतिक्रमण नहीं करते हैं। वह यह गायत्रीसंज्ञक ब्रह्म मन्त्र द्वारा प्रकाशित किया गया है। जो पहले कही गई है, वह इस गायत्रीसंज्ञक समस्त ब्रह्म की उतनी ही महिमा=विभूति-विस्तार है, जितना कि चार पाद वाला और छ: प्रकार का ब्रह्म का विकारभूत एक पाद (क्षर) गायत्री है। अत: उस विकारभूत वाचारम्भण मात्र गायत्री-संज्ञक ब्रह्म से परमार्थ सत्यस्वरूप निर्विकार पुरुष उत्कृष्टतर और महत्तर है, जो सबको पूरित करने तथा शरीर रूप पुर में शयन करने के कारण पुरुष कहलाता है। वह यह गायत्री चार चरणों वाली और छ: प्रकार की है। वे छ: प्रकार हैं—वाक्, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण। समस्त गायत्रीस्वरूप पुरुष का पुरुषसंज्ञक अमृत त्रिपात् द्युतिमान् अर्थात् प्रकाशस्वरूप स्वात्मा में अवस्थित है। गायत्रीमन्त्र का *छान्दोग्योपनिषद्* में इस प्रकार वर्णन प्राप्त होने पर भी गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना का रहस्य ज्ञात नहीं होता है।

यह उल्लेखनीय है कि वेदविज्ञान के इदम्प्रथमतया आविष्कर्त्ता पण्डित मधुसूदन ओझा ने जनसामान्य के कल्याण की दृष्टि से अपने दिव्य आर्षज्ञान (प्रातिभज्ञान) से विरचित प्रकरण ग्रन्थ *सन्ध्योपासनरहस्यम्* में

गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना के वैज्ञानिक रहस्य का प्रतिपादन किया है। यह लघु संस्कृतग्रन्थ मेरे पूज्य गुरुवर्य स्वामी श्री सुरजनदासजी द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद के साथ वि.सं. 2021 में प्रकाशित किया गया था, परन्तु इतनी सुदीर्घ कालावधि के पश्चात् भी इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन न होने के कारण यह ग्रन्थ सर्वजनोपयोगी होने पर भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। वस्तुत: इसका द्वितीय संस्करण अविलम्ब प्रकाशित होना चाहिए, जिससे औपचारिक रूप से गायत्रीमन्त्र का पाठ करने वालों को यह तो ज्ञात हो कि इसका वास्तविक वैज्ञानिक रहस्य क्या है। अभी तक तो यह स्थिति है कि 'गतानुगतिको लोक:' इस न्याय के अनुसार गायत्रीमन्त्र के पाठ द्वारा सन्ध्योपासना की क्रिया में अन्धानुकरण हो रहा है।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि पण्डित श्री ओझाजी के श्रद्धावान् साक्षात् शिष्य और मेरे गुरुवर्य ब्रह्मलीन स्वामी श्री सुरजनदास जी ने मुझे सत्पात्र समझकर उनके जीवनकाल में इस ग्रन्थ की एक प्रति स्वत: देने की कृपा की, जिसके फलस्वरूप ही आज मैं गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना के मेरे परम गुरु द्वारा उद्भावित और गुरुजी द्वारा अनूदित वैज्ञानिक रहस्य को आलेख द्वारा जनसामान्य तथा विद्वान् पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ। यदि इसके द्वारा गुरु ऋण (ऋषि ऋण) का सहस्रांश में भी शोधन हो सके, तो मैं कृतार्थ होऊँगा। पूज्य गुरुवर्य स्वामी जी ने इसके संक्षिप्त परन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रास्ताविक में कहा है— "प्रकृत पुस्तक में सन्ध्या क्यों करनी चाहिए? तथा उसके उपकरणभूत आचमन, अर्घ्यप्रदान, सूर्योपस्थान, प्राणायाम, अघमर्षण आचमन आदि क्यों किये जाते हैं? तथा इनसे किन-किन आध्यात्मिक तत्त्वों का पोषण होता है? सावित्री को गायत्री क्यों कहा जाता है? सन्ध्या सन्ध्याकालों में ही क्यों की जाती है? सन्ध्याकाल कितने हैं? आदि विषयों का मार्मिक व वैज्ञानिक विश्लेशण श्रुतिमूलक उपपत्तियों के आधार पर किया गया है।" (पृ. 1-2) तर्कप्रधान तथा भौतिक विज्ञानप्रधान युग में किसी भी पुरुष को धार्मिक क्रिया का वैज्ञानिक रहस्य बतलाये बिना उसमें श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न नहीं होता है।

सर्वप्रथम तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि शतपथ ब्राह्मण की पूर्वोद्धृत कण्डिका (1.3.34) पण्डित ओझा ने भी पृथ्वी की गायत्रीस्वरूपता बतलाने के लिए '*सन्ध्योपासनारहस्यम्*' में उद्धृत की है। वे कहते हैं कि पृथिवी आग्नेयी है। अग्नि गायत्र है उसकी यह भक्ति (उपासना) गायत्री है। तेजोधाम उस गायत्री में सूर्य से आगत समस्त देव सन्निधि करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि वेदवाचस्पति पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने शतपथ ब्राह्मण के *हिन्दी विज्ञानभाष्य (द्वितीय खण्ड)* में श्रीगुरुमुख से श्रुत प्रवचनों के अनुसार इस कण्डिका में पृथिवी की गायत्रीस्वरूपा का जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैज्ञानिक रहस्य प्रतिपादित किया है, वह यहाँ विस्तारभय से तथा अनपेक्षित होने से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

पण्डित ओझाजी का कथन है कि "यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायु:" इस कौषीतकि श्रुति के अनुसार ब्राह्मण (ब्रह्मविद्) आयु: स्वरूप उसी प्राण (विश्वामित्रसंज्ञक) की आराधना के लिए दोनों

सन्ध्याओं में सूर्य का उपस्थान करते हैं और सावित्री (सवित्तृदेवताक) वैश्वामित्री गायत्री का ध्यान करते हुए जप करते हैं। यह विज्ञानात्मरूप विश्वामित्र प्राण इसका संकीर्तन करने वाले की रक्षा करता है तथा गय नामक प्राणों की रक्षा करता है। अत: 'गायन्तं त्रायते गयान् वा प्राणांस्त्रायते' इस व्युत्पत्ति से इस विश्वामित्र प्राण की गायत्र संज्ञा है। इसकी आराधना करते हुए इस प्राण की प्राप्ति से दीर्घायुष्य की प्राप्ति करते हैं। इसी लिए स्मृति में कहा है—"**ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घायुरवाप्नुयु:।**"

जो प्रात: सायं सन्ध्या में इस प्राण की उपासना नहीं करते हैं उन्हें दीर्घायुष्य फल की प्राप्ति नहीं होती। अत: सावधानी से प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिए, ऐसा महान् पुरुषों का आदेश है।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विश्वामित्र प्राण सौर इन्द्रप्राण है और सौरप्राण की सत्ता सम्पूर्ण अह:काल (सूर्यप्रकाश से उपलक्षित काल) में कहती है, तब प्रात: सायं सन्ध्याकाल में ही इस प्राण की आराधना क्यों की जाती है। इसका समाधान यही है कि अह: (सूर्यप्रकाश से उपलक्षित काल) तथा रात्रि (सूर्य के अदर्शन से उपलक्षित काल) के सन्धिकाल में पार्थिव वाक्, सौर वाक् तथा उन दोनों के मध्यवर्ती आन्तरिक्ष्य वाक् का सन्धान होता है। इसी कारण इसकाल का नाम सन्ध्या है और इसीलिए इस समय सन्ध्योपासना की जाती है। तात्पर्य यह है कि संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब वाग्रूप है। जैसा कि '**अथो वागेवेदं सर्वम्**' यह ऐतरेय श्रुति बतला रही है। इस वाक् तत्त्व के अन्दर प्राणतत्त्व है और प्राणतत्त्व के अन्दर मनस्तत्त्व है, अत: वाक् के ग्रहण से प्राण और मन का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि वाक् प्राण और मन से पृथक् नहीं की जा सकती है। अत: जो भी सूर्य, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी का भाग दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब मन:प्राणवाङ्मय है। जो वाक् है, वही प्राण है और वही मन है।

दीर्घकालिक सन्ध्या से केवल दीर्घायुष्य की ही प्राप्ति नहीं होती है, अपितु आधिदैविक गायत्र तेज का आत्मा में आधान होता है जिससे ब्रह्मतेज की उत्पत्ति होती है। यही प्रात:सन्ध्योपासना का रहस्य है। सूर्या को सावित्री कहते हैं जैसाकि—

सावित्री चैव सूर्या च सैव पत्नी विवस्वत:।
स्तुता वृषाकपायीति उषा इति च प्रोच्यते।।

इस वचन के द्वारा *बृहद्देवता* में शौनक ने कहा है।

सूर्योपस्थापन का रहस्य

सन्ध्योपासना एक प्रकार का अग्निहोत्र ही है। अग्निहोत्र दो प्रकार का होता है—

1. निरुक्ताग्निहोत्र
2. अनिरुक्ताग्निहोत्र।

जो अग्निहोत्र आरण्याग्नि तथा गृह्याग्नि से सम्पन्न किया जाता है उसे निरुक्ताग्निहोत्र कहते हैं। इस अग्निहोत्र में प्रात:कालिक आहुति इन्द्रदेवताक तथा सायंकालिक आहुति अग्निदेवताक होती है। यह जो सन्ध्योपासनारूप अग्निहोत्र है वह अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र है। इसमें प्रात:सन्ध्या अग्नि देवता वाली गायत्री तथा सायंसन्ध्या इन्द्रदेवता वाली सरस्वती है। यह अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र ऐहलौकिक है। मनुष्यलोक में सौ वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त करने के लिए तथा ब्रह्मतेज की प्राप्ति के लिए इसका अनुष्ठान किया जाता है। जिस प्रकार देवलोकसम्बन्धी निरुक्ताग्नि अग्निहोत्रकर्म में इस आत्मा में पारलौकिक फल की प्राप्ति के लिए अग्नि का उपस्थापन किया जाता है, उसी प्रकार सन्ध्योपासनरूप मनुष्यलोकीय अग्निहोत्र में ऐहिक फलप्राप्ति के लिए सूर्योपस्थान किया जाता है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब अग्नि ज्योति होती है और जब सूर्य उदित हो जाता है तब सूर्य ज्योति होती है। जो सत्य से हवन किया जाता है वह देवताओं को प्राप्त होता है।

अर्घ्यदान का रहस्य

सूर्योपस्थापन से पूर्व इस सन्ध्योपासन रूप अनिरुक्ताग्नि अग्निहोत्र में सूर्य के लिए गायत्रीमन्त्र द्वारा अर्घ्यदान दिया जाता है, यह विशेष है। वह निरुक्ताग्नि अग्निहोत्र में नहीं दिया जाता। *तैत्तिरीय आरण्यक* में उसकी उपपत्ति बतलायी गई है कि—

"रक्षांसि ह वा पुरोऽनुवाके तप उग्रमतिष्ठन्त। तान् प्रजापतिरब्रवीद् योधयत्वमिति। तस्मादुत्तिष्ठन्तं ह वा तानि रक्षांस्यादित्यं योधयन्ति यावदस्तमन्वगात्। तानि ह वा एतानि रक्षांसि गायत्र्याभिमन्त्रितेनाम्भसा शाम्यन्ति। तदु ह वा एते ब्रह्मवादिन: पूर्वाभिमुखा: सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता अप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति। ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहान्यारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति। यत् प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति तेन पाप्मानमवधुन्वन्ति। उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते। स वाऽऽदित्यो ब्रह्मेति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद" इति।। (*तैत्तिरीय आरण्यक,* प्रपाठक 2, अध्याय 2)

अर्थात् राक्षसों ने उग्र तप किया। प्रजापति ने उनसे कहा—युद्ध करो। इसलिए वे राक्षस उदय से अस्त कालपर्यन्त उससे (आदित्य से) युद्ध करते हैं। ये राक्षस गायत्रीमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल से शान्त होते हैं। इसीलिए ब्राह्मण पूर्वाभिमुख होकर सन्ध्योपासन-काल में गायत्री से अभिमन्त्रित जलों को सूर्य की तरफ फेंकते हैं। प्रदक्षिण परिक्रमा द्वारा पाप को नष्ट करते हैं। उदित होते हुए और अस्त होते हुए सूर्य का ध्यान करते हुए ब्राह्मण को सकल कल्याणों की प्राप्ति होती है। यह आदित्य ही ब्रह्म है। इसकी उपासना करने वाला ब्रह्मरूप बन कर ब्रह्म में लीन हो जाता है तथा इस रहस्य को जानने वाला भी ब्रह्मस्वरूप बनकर ब्रह्म में मिल जाता है। इस श्रुति में प्रजापति शब्द से भी आदित्य ही अभिप्रेत है। यहाँ पृथ्वी का कृष्णरश्मिरूप अन्धकार ही राक्षस हैं। उनका सूर्यप्रकाश के साथ सम्पर्क ही सूर्य के साथ राक्षसों का युद्ध है। यद्यपि श्वेतप्रकाशरूप सूर्यरश्मियाँ कृष्ण पृथ्वीरश्मिरूप रात्रि (अन्धकार) को पूर्णतया नष्ट कर देती है अत: ये (पृथ्वीरश्मियों के आश्रय) प्राणरूप राक्षस नैर्बल्य के कारण युद्ध नहीं कर सकते हैं, तथापि सूर्य बिम्बात्मक ब्रह्म की सम्मुखता

न होने के कारण इस सन्ध्या में नीचे लम्बित (लटकी हुई) हुई सूर्यरश्मियों के साथ पृथ्वी की रश्मियाँ सम्पृक्त हो जाती हैं, अत: वे शुद्ध नहीं होती हैं। प्राणी में बुद्धि का निर्माण सूर्यरश्मियों से ही होता है, अतएव 'धियो यो न: प्रचोदयात्' कहा गया है।

इस प्रकार सहसम्पृक्त श्वेत और कृष्ण दोनों प्राण प्राणियों के हृदय में पहुँच कर बुद्धि को उत्पन्न करते हैं। उस स्थिति में उन कृष्ण प्राणों के साथ अन्धकार के अधिक सम्बन्ध के कारण हमारी बुद्धियाँ मन्द चेष्टा वाली न हो जाएँ—इसलिए सूर्यरश्मियों के साथ प्रविष्ट कृष्णप्राणरूप तम के परिहारार्थ पूर्व दिशा में गायत्री मन्त्र के द्वारा सूर्य का ध्यान करते हुए सूर्य की ओर जलों का प्रक्षेपण करते हैं। वे जल उच्छिन्न किये गए कृष्ण प्राणों को तिरस्कृत करते हुए ब्रह्ममूलक श्वेत प्राणों को अधिक उद्दीप्त करते हैं, इसलिए ओजस्विनी दैवी बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, न कि आसुरी। ब्रह्मस्वरूप विशुद्ध सूर्यरश्मि से सम्पन्न ब्रह्मभूत यह विज्ञानमय आत्मा देह का अवसान होने पर सूर्यस्वरूप ब्रह्म में विलीन हो जाता है, न कि तम से विक्षिप्त होकर अन्यत्र तामस नरक लोकों में जाता है।

वायुपुराण में भी इस रहस्य का उद्घाटन इस प्रकार किया गया है—

तिस्र: कोट्यस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसा:।
प्रार्थयन्ति सहस्रांशुमुदयन्तं दिने दिने।।
तापयन्तो दुरात्मान: सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्।
अथ सूर्यस्य तेषां च युद्धमासीत् सुदारुणम्।।
ततो ब्रह्मा च देवाश्च ब्राह्मणाश्चैव सत्तमा:।
सन्ध्येति समुपासन्त: क्षेपयन्ति महाजलम्।।
ओङ्कारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्।
तेन दह्यन्ति ते दैत्या वज्रभूतेन वारिणा।।

— (*वायुपुराण,* अध्याय 50)

यहाँ राक्षसों को मन्देह शब्द से व्यवहृत किया है, क्योंकि तमोमय राक्षस सूर्यरश्मि से सम्बद्ध होकर हमारे हृदय में पहुँच कर सूर्यरश्मियों से बनने वाली हमारी बुद्धि को अज्ञान द्वारा आवृत्त कर मन्द चेष्टा वाली बना देते हैं।

देवता–ध्यान

यदि सर्वदा एकरूपा देवता का ध्यान करना हो, तो सर्वदेवमयी इस एकरूपा ही देवी गायत्री का तीनों सन्ध्याओं में ध्यान करना चाहिए।

यदि भिन्नरूपा देवता का ध्यान करना अभीष्ट हो, तो प्रात: भूलोक की अधिष्ठात्री गायत्री देवता का ध्यान करना चाहिए। मध्याह्न में भुवलोक की अधिष्ठात्री सावित्री देवता का ध्यान करना चाहिए। सायं काल में स्वर्लोक की अधिष्ठात्री सरस्वती देवता का ध्यान कर आवाहन करना चाहिए।

यज्ञोपवीती ही गायत्री मन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना का वास्तविक अधिकारी है। अत: पण्डित ओझा जी ने इस प्रकारण ग्रन्थ (digest) में प्रसंगवश यज्ञोपवीतविज्ञान का भी संक्षेपत: प्रतिपादन किया है। स्मृतिकारों ने ब्राह्मण (वेद तथा ब्रह्मविद्या का ज्ञाता) के लिए सन्ध्यात्रय की उपासना को अनिवार्य बतलाया है—

सन्ध्यात्रयञ्च कर्तव्यं ब्राह्मणेन विपश्चिता।
अन्यथा नरकं याति सर्वकर्मकरोऽपि सन्।।

सन्ध्यात्रय की उपासना के निश्चित काल का भी निर्देश किया गया है—

1. प्रात: सन्ध्या — सनक्षत्रा
2. मध्याह्न-सन्ध्या — मध्याह्नस्नान के काल में
3. सायं सन्ध्या — सादित्या

कुल मिलाकर चार सन्ध्याकाल हैं—प्रातःकाल, सायंकाल, मध्याह्नकाल और निशीथकाल (अर्द्धरात्रिकाल)। प्रात: और सायम् रात्रि के देवता अग्नि तथा दिन के देवता इन्द्र की सन्धि अर्थात् मेल होता है, अत: ये दोनों सन्ध्याकाल हैं। यद्यपि रात्रि के मध्य भाग (मध्यरात्रि) तथा दिन के मध्यभाग (मध्याह्न) में भी मित्र और वरुण देवताओं की सन्धि है, अत: वे दोनों भी सन्ध्याकाल हैं। किन्तु उन दो में से अर्द्धरात्रि में असुरों की सत्ता होने से उस समय सन्ध्योपासना निषिद्ध है। क्योंकि उस समय उपास्य असुर हैं और वे तामस होने से बुद्धि में मालिन्य उत्पन्न करने के कारण हेय हैं। मध्याह्न भाग में भी मित्र-वरुण की सन्धि में वरुण प्रधानतया उपास्य होता है और वह स्मृतिकारों द्वारा मतभेद से असुर तथा देव दोनों माना जाता है। वरुण को देव मानने वालों के अनुसार देवभाग के उपादेय होने से मध्याह्नकाल भी सन्ध्योपासना का काल है। जिनके अनुसार वरुण असुर है, वे मध्याह्नकाल में सन्ध्योपासना को उचित नहीं समझते हैं और प्रातःकाल तथा सायंकाल को सन्ध्योपासना का काल मानते हैं। यदि तीनों कालों में सन्ध्योपासना न भी की जाए, तो भी प्रात: और सायं सन्ध्योपासना आवश्यक है। यहाँ पण्डित ओझा जी निर्देश देते हैं कि सूर्योदय से दो घड़ी (घटी) पहले प्रात: सन्ध्या का मुख्य काल है तथा सायं सन्ध्या का सूर्यास्त होने से दो घड़ी पहले।

अर्घ्यनिवेदन

आचमन के अनन्तर दर्भ हाथ में लेकर जल की पूर्ण अञ्जलि भर कर 'बळित्था पर्वतानाम्' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए आदित्य के सम्मुख खड़े होकर 'ॐ भू:, ॐ भुव:, ॐ स्व:' इन व्याहृतियों से युक्त गायत्री मन्त्र का तीन बार उच्चारण कर उस अञ्जलि को सूर्य की ओर प्रक्षिप्त कर दे। जो पाप्मव्यपोह (पाप-विनाश-विधि) का अनुष्ठान नहीं करना चाहते है, वे बिना आचमन किए ही सूर्य की ओर अर्घ्य फेंक दें। यह अर्घ्यनिवेदनविधि है।

इस प्रकार मैंने इस आलेख में गायत्र्युपासकों के परिज्ञान के लिए पण्डित ओझाजी द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक रहस्य का विवेचन कर दिया है। 'सन्ध्योपासनरहस्यम्' में इस विवेचन से अतिरिक्त भी अनेक अवान्तर क्रियाओं का सप्रमाण प्रतिपादन किया गया है, परन्तु विस्तारभय के कारण इस एक आलेख में उनका निरूपण सम्भव नहीं है। पण्डित ओझाजी ने गायत्री शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ प्रस्तुत करते हुए कहा है— 'गायति=सम्पादयति पदार्थान् त्रायते=रक्षति च सम्पन्नान् तान् पदार्थान् इति गायत्री।' अन्त में यह उल्लेखनीय है कि मैंने *छान्दोग्योपनिषद्* के तृतीय प्रपाठक के 12वें खण्ड के अनुसार जिस ब्रह्मगायत्री का संक्षेप में विवेचन किया है, उसका पण्डित ओझा जी ने उनके ब्रह्मविज्ञानपरक '*ब्रह्मचतुष्पदी*' नामक ग्रन्थ में दार्शनिक दृष्टि से पद्यात्मक विवेचन किया है। उन्होंने वह विवेचन '*सन्ध्योपासनरहस्यम्*' ग्रन्थ में प्रसङ्गवश उद्धृत किया है। उसका निरूपण गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना के लिए यहाँ अपेक्षित नहीं है। गायत्रीमन्त्र द्वारा सन्ध्योपासना के अपेक्षित वैज्ञानिक रहस्य का यहाँ प्रतिपादन कर दिया गया है।

प्रथम पूर्व-निदेशक
पण्डित मधुसूदन ओझा शोधप्रकोष्ठ
संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।
आवास सम्पर्क संकेत—'केसर-कुञ्ज'
महेशनगर, चैनपुरा (वाया-मण्डोर)
जोधपुर-342304 (राजस्थान)
मोबा. 09413848116

तन्त्रागम में गङ्गा-विमर्श

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

प्रत्यङ्निष्ठः स धीरः परिहरति सनात् संग्रहाद् वै पराञ्चि।
यस्याङ्गीकारलेशात् प्रभवति विशदं ब्रह्मसौख्यं च दौःस्थ्ये।
लीयेतामूर्तमात्रं घटपटविषयं विग्रहाद् यस्य मूर्तम्।
कारुण्येनावतीर्णं जयतु शिवगुरोरङ्घ्रिजं पञ्चगङ्गम्।।4।।

जीवान्तर्य्यामिभेदाद् द्विविधगतिरसौ संग्रहाख्यैकधारा।
गृह्णातेरादितश्च प्रतिलिखनबलाल्लभ्यते या द्वितीया।
सा स्पर्शावेशवृतिर्विपरिसहचरी या तृतीया तुरीया।
यैषा पूर्व्वानुयोगात् प्रवहति परमेत्याश्रयेत् पञ्चागङ्गम्।।5।।

परमात्मा के निःश्वास से उत्पन्न सभ्यता के आदिम ग्रन्थ *ऋग्वेद* में गङ्गा का उल्लेख प्राप्त होता है—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
आस्किन्या मरुद्धे वितस्तयार्जकीये शृणुह्या सुषोमया।।[1]

इस प्रकार ऋषियों ने गङ्गा का नामोल्लेख किया है। संस्कृत साहित्य के आदिकाव्य *रामायण* बालकाण्ड सर्ग 42, अयोध्याकाण्ड सर्ग 95 तथा महाभारत वनपर्व अध्याय 109 में भी गङ्गा माता की स्तुति का पर्याप्त मात्रा में वर्णन मिलता है। पौराणिक समय में धार्मिक भाव की वृद्धि के साथ गङ्गा तथा यमुना का बहुत ही उच्च कोटि का वर्णन मिलता है। गङ्गा समस्त पापों को नाश करनेवाली, पतितों को तारनेवाली तथा जलस्पर्श मात्र से स्वर्ग देनेवाली बतलाई गई है।[2] *ब्रह्मपुराण* भी इसी का अनुमोदन करता है—

गङ्गेति स्मरणादेव क्षयं याति च पातकम्।
गङ्गातोयेषु तीरेषु तेषां स्वर्गोऽक्षयो भवेत् ॥
गङ्गाथ सरितां श्रेष्ठा सर्वकामप्रदायिनी।[3]

इस प्रकार पुराणों में गङ्गा यमुना की महिमा का सुन्दर वर्णन मिलता है।[4] हिन्दू शास्त्रों के अतिरिक्त बौद्ध जातकों में भी गङ्गा के पुण्यस्थान-सम्बन्धी धार्मिक यात्राओं का महत्त्व बतलाया गया है।[5]

इन उपर्युक्त वर्णनों से प्रकट होता है कि गङ्गा की प्रार्थना तथा पूजा प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा, बिना किसी भेद-भाव के, होती थी। आगमिक चिन्तन प्रणाली में गङ्गा का विशद विवेचन प्राप्त होता है। वैष्णवागमों में गङ्गा की प्रतिमाओं का लक्षण विस्तार से वर्णित है। *वैखानस आगम* में महामुनि मरीचि ने गङ्गा का लक्षण निम्नवत् निरूपित किया है—

तृतीयावरणे प्राग्द्वारदक्षिणे पश्चिमाभिमुखा द्विभुजा पीताम्बरधरा श्वेताभा कृष्णकुञ्चितमूर्धजा हृदये अञ्जलिसंयुक्ता रेवतीजा गकारबीजा कूर्मध्वजवाहना शङ्खरवा गङ्गा।[6]

महाभाग भृगु ने जाह्नवी का लक्षण बताते हुए कहा है—

जाह्नवीं श्वेतरक्ताभां पीतवस्त्रां तथैव च।
विभज्यैकदलं हस्तेनाऽऽघ्रायन्तीं तदम्बुजम्।
आश्वयुङ्मासि रेवत्यां जातां तां जोहितध्वजाम्।
सर्वाभरणसंयुक्तां गङ्गां कुर्याद्विचक्षणः॥[7]

खिलाधिकार ग्रन्थ में गङ्गा का लक्षण अधोलिखित है—

सर्वाभरणसंयुक्तां गङ्गां कुर्याद्विचक्षणः।।
पीठे कूर्माकृतौ देवीं पद्महस्तां तथाऽऽसने।
धृतं चैककरे पद्ममाजिघ्रन्ती समाचरेत्।
प्रसारितासनं कुर्यात्तस्या न स्थानमिष्यते।
शाकुरिः शैषिकस्तस्या वाहनं हंस इष्यते।
स्त्रीणां ध्वजस्तु हंसः स्यात् कलिपत्नीपतेः सदा।[8]

गुप्तकालीन देवगढ़ के दशावतार देवालय के द्वार के ऊपरी भाग में गङ्गा की मूर्ति मकर पर तथा यमुना की कूर्म पर क्रमशः बाई तथा दाहिनी ओर स्थित हैं।[9]

भूमरा के शिवालय में द्वार के ऊपरी भाग में शिव की मूर्ति के साथ-साथ द्वार-देवता गङ्गा तथा यमुना की भी मूर्तियाँ मिलती है।[10] गुप्तों के अन्य मन्दिरों—तिगवा[11] तथा देवगढ़[12] में गङ्गा और यमुना की मकर तथा कूर्मवाहिनी प्रतिमाएँ उदयगिरि गुहा की मूर्तियाँ समुद्र में प्रवेश करती हुई दिखलाई पड़ती है।[13]

यों तो गुप्त कालीन ऐतिहासिक स्थानों (पहाड़पुर आदि) से गङ्गा तथा यमुना दोनों की मूर्तियाँ मिली है, परन्तु गङ्गा की विशेषता बढ़ती गयी और समयान्तर में गङ्गा की पूजा की महत्ता समझी जाने लगी। उत्तरी भारत में मकर वाहिनी देवी का कतिपय स्थलों पर गङ्गा नाम दिया गया है जो पहले किसी भी लेख से प्राप्त नहीं होता।[14] तथा भेड़ाघाट (जबलपुर, मध्यप्रान्त) के लेख, कनिंघम- आ. स. रि., भाव. 9, पृ. 66-91

में मकर वाहिनी देवी गङ्गा के नाम से उल्लिखित मिलती है। इसके अतिरिक्त *विष्णुधर्मोत्तर* नामक ग्रन्थ में भी इनका नाम गङ्गा ही लिखा मिलता है।

ऐलीफेंटा में गङ्गाधर शिव की एक मूर्ति मिलती है जिसमें गङ्गा शिव की जटा में प्रवेश करती हुई दिखाई गई है।[15] उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पुराणों की भाँति आगम में भी शिव का एक नाम गङ्गाधर है। शिल्पशास्त्रीय *शिल्परत्नकोष* ग्रन्थ में गङ्गाधर शिव की मूर्ति का निम्नलिखित प्रकार से वर्णन मिलता है—

गङ्गाधरमहं वक्ष्ये सर्वलोकसुखावहम्।
सुस्थितं दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्।
विश्लिष्यं स्याज्जटाबन्धं वामे त्वीषन्नताननम्।
दक्षिण पूर्वहस्ते तु वरदं दक्षिणेन तु।
देवीमुपाश्रितेनैव देवीमालिङ्ग्य कारयेत्।
दक्षिणापरहस्तेनोद्धत्योष्णीषसीमकम्।
स्पृशेज्जटागतां गङ्गां वामेन मृगमुद्धरेत्।
देवस्य वामपार्श्वे तु .....
भगीरथं दक्षिणे तु पार्श्वे मुनिवरान्वितम्।
चतुर्भुजं त्रिनेत्रं च कपर्दमुकुटान्वितम्।
अभयं दक्षिणं हस्तं कटकं वामहस्तकम्।
कपर्दमुकुटं तेन गृहीतं जाह्नवीयुतम्।
वामदक्षिणहस्तौ तु कृष्णपरशुसंयुतम्।
अभयं पूर्ववत्प्रोक्तं कपर्दार्पितहस्तकम्।
तस्य वामे भवानीं तु कारयेल्लक्षणान्विताम्।
जान्वन्तं वापि नाभ्यन्तं भागीरथ्यास्तु मानकम्।
प्रलम्बकजटोपेतमुष्णीषं जलहस्तकम्।
द्विभुजं च त्रिनेत्रं च वल्कलाम्बरसंयुतम्।
एवं गङ्गाधरं प्रोक्तं चण्डेशानुग्रहं शृणु।[16]

दक्षिण भारत में गङ्गा को धारण किए नटराज शिव की मूर्तियों का वर्णन मिलता है।[17] उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आगम-विज्ञान में शिव का एक नाम गङ्गाधर भी वर्णित है।[18]

कश्मीर शैवागम के *श्रीस्वच्छन्दतन्त्र* में भगवती श्री देवी उमा के जिज्ञासा करने पर भगवान् भैरव ने गङ्गा की उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन किया है। भगवान् भैरव का अभिमत है कि प्रिये ! तुम तो मेरे रहस्यात्मक रूपों से पूरी तरह परिचित हो! तुम यह भी जानती हो कि, आदि सर्ग में मेरी परा व्याप्ति का रूप क्या था विश्व

के आदि कारण रूप उस मेरी पराव्याप्ति में भी पारूप से मेरी पत्नी के रूप में एक शक्ति काम कर रही थी। उसका नाम क्षया था। वह जगन्माता आदि सर्ग में विश्व प्रसर की प्रथम हेतु बनी। उस समय उसका नाम क्षया था—

कथं गङ्गा समुत्पन्ना सुरसिद्धनमस्कृता।
कथयस्व प्रसादेन समासात्सुरसत्तम।

श्री भैरव उवाच—

गङ्गायाश्च समुत्पत्तिं कथयिष्यामि सुव्रते।
तां वक्तुमुपक्रमते—जगन्माता महादेवि मम पत्नी पुरा हि सा।
मम परया व्याप्त्या विश्वकारणस्य परयैव व्याप्त्या स्थिता पत्नी क्षयाख्या शक्तिरत एव पुरा जगन्माता आदिसर्गे विश्वप्रसरहेतुः।[19]

स्वातन्त्र्य के प्रभाव से जब मैंने रुद्रलोक के अधिष्ठाता रुद्र की मूर्ति धारण कर रुद्र रूप में स्फुरित हुआ। उस समय गङ्गा मेरे नेत्रों की नीर थी वे आनन्द के अश्रु थे। उससे मेरे नेत्र तरल थे। तरल नेत्रों से आकृतिमती रुद्राणी रूप तुमको मैंने जैसे ही देखा, तुम्हारी प्रणयवती कामकला में लालित्य उद्वेलित हो उठा। तुमने अपनी अङ्गुलियों से मेरी आँखें बन्द कर दी। अङ्गुलिनखों का आच्छादन भी मेरे लिए आनन्द प्रद था। हे जगज्जननी! तुमने मेरे आँखों से अङ्गुलियों को ज्यों ही हटाया वे आनन्दाश्रु छलक उठे और तुम्हारी मृदुल अङ्गलियों में जा लगे। तुमने दोनों हाथों से मेरी दोनों आँखें ढकी थी। अतः तुम्हारी दशों अङ्गुलियों में लगकर वह तरल नेत्र जल दश भागों में विभक्त हो गया। बस सृजन में एक चमत्कार घटित हो गया। गङ्गा दश भागों में विभक्त हो गयी। उस पवन जल में रुद्र के प्रणव का पवित्र तारल्य था। तुम्हारे प्रणय की प्रेरणा थी। अतः गङ्गा वहाँ रुक न सकी। वहाँ से सात भागों में वह उछल पड़ी। मेरा पहला रुद्रावतरण कपालावरण कहलाता है। वहाँ कपालीश के रूप में विराजमान हूँ।

स्वतन्त्र्याद्गृहीतरुद्रलोकाधिष्ठातृरुद्रमूर्तेस्तु असौ– आनन्दाश्रु इत्यर्थः। यस्मादाकृतिमत्या प्रणयकेलिवशेन कदाचित् – करजैश्छादिते मम।। दशधा निःसृता गङ्गा तासां मध्यात् – कपालावरणे मम। सप्तैव संस्थितास्तत्र कान् प्रजापतीन् पालयतीति कपालो रुद्रस्तदावरणे तल्लीके ब्रह्माण्डोर्ध्वकपालोपलक्षितावरणे रुद्रलोके इत्यर्थः।[20]

यद्वक्ष्यति—

वरेण्या वरदा चैव वरिष्ठा वरवर्णिनी। वसिष्ठा च वराहा व वरारोहा च सप्तमी।

गङ्गा ह्येताः समाख्याता रुद्रलोकवहाः सदा। इति।[21]

अर्थात् प्रजापतियों का पालन करने वाले रुद्र ही कपालेश या कपालीश रुद्र नाम शास्त्रों ने दिया है। उस कपालीश रुद्रलोक में गङ्गा—'वरेण्या, वरदा, वरिष्ठा, वरवर्णिनी, वशिष्ठा, वराहा और वरारोहा—इन सात नामों से आज भी बहती है।

बच गयी तीन अङ्गलियों वाली जलधारायें। उनमें से एक विष्णुपुरी अर्थात् श्रीपति पुरी में जा गिरी। वहीं उसका प्रवाह विष्णुपुर को पावन करने लगा। उसका दूसरा स्फुरण ब्रह्मलोक के ऊर्ध्वभाग के क्षेत्र में प्रवाहित हो उठा। यह पद्मवती पुरी वाला ब्रह्मांशावतार का ब्रह्मलोक नहीं वरन् सत्यलोक में अवस्थित ब्रह्मलोक का ऊर्ध्वभाग है, जहाँ यह दूसरा प्रवाह प्रभावित हो उठा। उसके विषय में लिखा है कि हे प्रिये करोड़ योजन मान में सत्यलोक के ऊपर ब्रह्म का सिंहासन है। यह बड़ा प्रसिद्ध आसन है। जपाकुसुम और सिन्दूर की आभा से भासमान है। यह प्रवाह उस ब्रह्मासन को प्रक्षालित करते हुए प्रवहमान है। तीसरी धारा सत्यलोक में बहने लगी, किन्तु उसमें इतना वेग था कि वह सत्यलोक से स्वर्ग लोक में आ गिरी। स्वर्ग से सोममण्डल में पहुँची। सोममण्डल में वह अपना उद्वेग नहीं सम्भाल सकी। यह सोममण्डल से निकल कर आकाश में अव्यवस्थित हो रही है। उसी समय मेरे पास ब्रह्मा, विष्णु पुरःसर देवताओं ने मुझसे प्रार्थना की और कहा देवाधिदेव यहाँ पुण्यप्रदा पावन गङ्गाप्रवाह इस समय आकाश में ही अव्यवस्थित है। भगवन् ! इसे इस अवस्था से उबारकर और अवतरित कर मर्त्यलोक में विसर्जित करने की कृपा करें।[22]

हे देवेश्वरि ! देववर्ग की यह प्रार्थना सुनकर मैंने उस अपराजिता प्रवाह शक्ति रूपा गङ्गा से कहा- हे सुरसुन्दरि गङ्गे! लोककल्याण के उद्देश्य से तुम मर्त्यलोक को अपने प्रवाह से कृतार्थ करो और आकाश से उतर कर तुम धरा-धाम पर अवतीर्ण होने की कृपा करो। उसी समय वह मेरी मूर्धा मे आकर समा गयी। जटाओं के जाल से मैंने पुनः उसे निकाला और मेरु के शिखर की ओर प्रवाहित कर दिया। वहाँ से निकल कर वह चारों दिशाओं में स्थित चार समुद्रों में समाने के लिए प्रवाहित होने लगी।

पूर्व दिशा में प्रवाहित उस देवी का नाम सीता पड़ा। दक्षिण में प्रवाहित गङ्गा सुवहा नाम से बहने लगी। पश्चिम में प्रवाहित गङ्गा सुनन्दा बन गयी और उत्तर में बहने वाली इस नदी का नाम भद्रसोमा पड़ा—

ततो मया सुरेशानि प्रोक्ता सा त्वपराजिता।
लोकानां तु हितार्थाय आगच्छ सुरसुन्दरि॥

अथासौ- आगत्य मम मूर्धानं ममेति ज्योतिष्कशिखरगतस्य। मेरुमूर्ध्नि पुनर्गता।

तस्मान्निर्गत्य देवेशि चतुर्दिक्षूदधिं गता।
सा च- पूर्वे सीता समुद्दिष्टा सुहवा दक्षिणेन तु।
सुनन्दा पश्चिमे भागे भद्रसोमा तथोत्तरे।
बहुपर्वतादिव्यवहितचतुर्दिग्गतोदधिप्राप्तिर्गङ्गायाः प्राकाम्यादिति मन्तव्यम्।[23]

इस प्रकार काश्मीर शैवागमतन्त्र में गङ्गोत्पत्ति की अविरल-धारा प्रवाहित हो रही है।

शाक्तागम के *योगिनीतन्त्र* में भी गङ्गा का माहात्म्य वर्णान प्राप्त होता है—

माहात्म्यं किमु वक्ष्यामि गङ्गायाश्च सुरेश्वरि!।
यन्नामस्मरणादेव पापिनो मुक्तिभागिनः।
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयात् पापिनामपि पातकी।
तेषाञ्च पातकं हित्वा तैर्गच्छेद्वैष्णवीं पुरीम्।।
यानि कानि च पापानि प्रोक्तानि ते महेश्वरि।।
प्रायश्चित्तविहीनानि प्रायश्चित्तपराण्यपि।।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति गङ्गानीराभिषेकतः।
नगरी घर्घराद्यम्बु पतेद् गङ्गा प्रवाहयेत्।।
सर्वं गङ्गा भवत्येव मन्त्रमाहात्म्यतः शिवे।
यत्र देशे वहेद् गङ्गा स देशः पुण्यभाजनः।
पुण्यक्षेत्रं समुद्दिष्टं पवित्रं योजनद्वयम्।।
यत्र यत् क्रियते कर्म गङ्गायां नात्र संशयः।
गङ्गायां यत् कृतं देवि! तदक्षयफलं लभेत्।
सङ्गमं वा विहीनं वा कथितं शम्भुवल्लभे !।
तत्रस्थाः प्राणिनः सर्वे देवलोकविनि:सृताः।
भुक्त्वा च विविधान् भोगान् कृत्वा व सुकृतं सदा।
अनायासेन यास्यन्ति स्थानं परमदुर्लभम् ॥
यत्र गङ्गा ना शोचन्ति देवर्षिगणसंस्तुताः।

मन्त्रमहोदधि में मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ नमः शिवायै नारायण्यै दशहरायै गङ्गायै स्वाहा। इति विंशत्यक्षरो मन्त्रः।

यह बीस अक्षरों का मन्त्र है।

अस्य विधानम्—

विनियोग : अस्य मन्त्रस्य वेदव्यास ऋषिः कृतिच्छन्दः गङ्गा देवता ममाभीष्टसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।।

ऋष्यादिन्यास : ॐ वेदव्यासऋषये नमः शिरसि 1। कृतिच्छन्दसे नमो मुखे 2। गङ्गादेवतायै नमो हृदि 3। विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे 4। इति ऋष्यादिन्यासः।

करन्यास : ॐ नमः अंगुष्ठाभ्यां नमः 1। शिवायै तर्जनीभ्यां नमः 2। नारायण्यै मध्यमाभ्यां नमः 3। दशहरायै अनामिकाभ्यां नमः 4। गङ्गायै कनिष्ठिकाभ्यां नमः 5। स्वाहा करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः 6। इति करन्यासः।

हृदयादिषडङ्गन्यास : ॐ नमो हृदयाय नमः 1। शिवायै शिरसे स्वाहा 2। नारायण्यै शिखायै वषट् 3। दशहरायै कवचाय हुम् 4। गङ्गायै नेत्रत्रयायै वौषट् 5। स्वाहा अस्त्राय फट् 6। इति हृदयादिषडङ्गन्यासः।

इस प्रकार न्यास करके ध्यान करें।

अथ ध्यानम् :

उत्फुल्लामलपुण्डरीकरुचिरा कृष्णेशविन्ध्यात्मिका
कुम्भेष्टाभयतोयजानि दधती श्वेताम्बरालङ्कृता।
हृष्टास्या शशिशेखराऽखिलनदीशोणादिभिः सेविता
ध्येया पापविनाशिनी मकरगा भागीरथी साधकैः।।1।।

इससे ध्यान करके मानस के उपचारों से पूजा करें। इसके बाद पीठादि में रचित सर्वतोभद्रमण्डल में मण्डूकादिपरतत्त्वान्त पीठदेवताओं की स्थापना करके "ॐ मं मण्डूकादिपरतत्त्वान्त पीठदेवताभ्यो नमः" इससे पीठदेवताओं की पूजा करके नव पीठशक्तियों की इस प्रकार पूजा करें।

भारतीय विचारधारा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सार्थक तत्त्व 'मन्त्र तत्त्व' है। साधना राज्य तथा अध्यात्म का गूढ रहस्य मन्त्रशास्त्र में निहित है। आत्मोपलब्धि, ब्रह्मज्ञान एवं सिद्धि प्राप्ति के लिए मन्त्र और मन्त्र चेतना ही समर्थ साधना है। तन्त्र-विधान में मन्त्र ही मुख्यमन्त्री होता है। मन्त्र शक्ति का नामात्मक प्रकाश है, यन्त्र रूपात्मक अभिव्यक्ति है तथा तन्त्र क्रियात्मक पद्धति। इसीलिए मन्त्र-यन्त्र तथा तन्त्र का नाम-रूप-क्रिया के द्वारा समस्त साधनाएँ पूर्ण होती हैं।

मन्त्र महार्णव के देवीकाण्ड[24] में भगवती भागीरथी (गङ्गा) के सन्दर्भ में विविध मन्त्रों का विनियोग-प्रयोग विवरण उपलब्ध है जो निम्नवत् है—

पूर्वादिक्रमेण ॐ जयायै नमः 1। ॐ विजयायै नमः 2॥ ॐ अजितायै नमः 3। ॐ अपराजितायै नमः 4। ॐ नित्यायै नमः 5। ॐ विलासिन्यै नमः 6। ॐ दोग्ध्र्यै नमः 7। ॐ अघोरायै नमः 8। मध्ये ॐ मङ्गलायै नमः 9।

इससे पूजा करें। इसके बाद स्वर्ण आदि से निर्मित यन्त्र या मूर्ति को ताम्र पात्र में रख कर घृत से अभ्यङ्ग करके उसके ऊपर दूध तथा जल की धारा डालकर स्वच्छ वस्त्र से पोंछ कर 'ॐ गङ्गायै पुष्पासनायै नमः' इससे पुष्पाद्यासन देकर पीठ के बीच में उसे स्थापित करके उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके पुनः ध्यान करके मूलमन्त्र

से मूर्ति की कल्पना करके आवाहन से लेकर पुष्पाञ्जलि दानपर्यन्त उपचारों से पूजा करके देवी की आज्ञा से इस प्रकार आवरण पूजा करें।

पुष्पाञ्जलिमादाय—

ॐ संविन्मये परे देवि परामृतरसप्रिये।
अनुज्ञा देहि मे गङ्गे परिवारार्चनहेतवे।।1।।

इति पठित्वा पुष्पाञ्जलि च दत्त्वा पूजितास्तर्पिता: सन्तु इति वदेत्। इत्याज्ञां गृहीत्वा आवरणपूजामारभेत्।।

पुष्पाञ्जलि लेकर "ॐ संविन्मये परे देवि परामृतरसप्रिये। अनुज्ञां देहि मे गङ्गे परिवारर्चनहेतवे।"

यह पढ़ कर पुष्पाञ्जलि देकर "पूजितास्तर्पिताः सन्तु" यह कहें। इससे आज्ञा लेकर आवरण पूजा आरम्भ करें।

षट्कोण केसरों में आग्नेयादि चारों दिशाओं में और मध्य दिशाओं में :

ॐ नमः हृदयाय नमः। हृदयश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।।1।। इति सर्वत्र। ॐ शिवायै शिरसे स्वाहा। शिरः श्रीपा 2॥ ॐ नारायण्यै शिखायै वषट 3। ॐ दशहरायै कवचाय हुम्। कवचश्रीपा० 4। ॐ गङ्गायै नेत्रत्रयाय वौषट्। नेत्रश्रीपा. 5। ॐ स्वाहा अस्त्राय फट् 6।।

इससे षडङ्गों की पूजा करनी चाहिये। इसके बाद पुष्पाञ्जलि देकर—

अभीष्ट सिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले। भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम्।

यह पढ़कर पुष्पाञ्जलि देकर "पूजितास्तर्पिताः सन्तु" यह कहें। इति प्रथमावरण।।1।।

ततोष्टदले पूज्यपूजकयोरन्तरालं प्राची | तदनुसारेण अन्या दिश: प्रकल्प्य प्राचीक्रमेण।

इसके बाद पूज्य और पूजक के अन्तराल को पूर्व दिशा मानकर तदनुसार अन्य दिशाओं की कल्पना करके अष्टदलों में पूर्वादि क्रम से

ॐ रुद्राय नमः। रुद्रश्रीपा. 1। ॐ विष्णवे नमः। विष्णुश्रीपा.2। ॐ ब्रह्मणे नमः। ब्रह्मश्रीपा. 3। ॐ सूर्याय नमः। सूर्यश्रीपा. 4। ॐ हिमाचलाय नमः। हिमाचलश्रीपा. 5। ॐ मैनाकाय नमः। मैनाकश्रीपा. 6। ॐ भगीरथाय नमः। भगीरथश्रीपा. 7। ॐ उमापतये नमः। उमापतिश्रीपा. 8।

इससे आठों की पूजा करके पुष्पाञ्जलि देवें। इति द्वितीयावरण।।2।।

इसके बाद अष्टदलाग्रों में रुद्र आदि के समीप :

ॐ मीनाय नम: 1। ॐ कूर्माय नमः 2। ॐ मण्डूकाय नमः 3। ॐ मकराय नम: 4।। ॐ हंसाय नम: 5। ॐ चक्रवाकाय नम: 6। ॐ वकाय नमः 7। ॐ सारसाय नम: 8।

इससे आठों की पूजा करके पुष्पाञ्जलि देवें। इति तृतीयावरण।।3।।

इसके बाद भूपुर में पूर्वादि क्रम से इन्द्र आदि दश दिक्पालों तथा वज्र आदि उनके आयुधों की पूजा करके पुष्पाञ्जलि देवें।

इस प्रकार आवरण पूजा करके धूपादि दान से लेकर नमस्कार पर्यन्त पूजा करके जप करें। इसका पुरश्चरण एक लाख जप है। तिल और घी से जप का दशांश होम करना चाहिये। ऐसा करने पर मन्त्र सिद्ध होता है। इस मन्त्र के सिद्ध होने पर साधक प्रयोगों को सिद्ध करें।

लक्षं जपेद्दशांशेन जुहुयात्सघृतैस्तिलैः।
एवं संसाधितो मन्त्रोऽभीष्टं यच्छति मन्त्रिणाम्।।1।।

ज्येष्ठशुक्लदशम्यां तां विशेषेण भजेद्बुधः।
दद्याद्दशभ्यो विप्रेभ्यो दशप्रस्थमितान् तिलान्।।2।।

जप्त्वा सहस्रं हुत्वा चोपोष्य तत्र विकल्मषः।
सर्वभोगासमायुक्तो जायते मानवो भुवि।।3।।

एक लाख जप करना चाहिये उसके दशांश से घी युक्त तिल से होम करना चाहिये। इस प्रकार से सिद्ध किया गया मन्त्र अभीष्ट फल देता है। ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को गङ्गाजी की उपासना विशेष रूप से करनी चाहिये। दश ब्राह्मणों को दश सेर तिल देना चाहिये। उपवास के बाद एक हजार जप करके तथा हवन करके मनुष्य पवित्र होकर समस्त भोगों से युक्त हो जाता है।

इति विंशत्यक्षरगङ्गा मन्त्रप्रयोगः।।

मन्त्र महोदधि में गङ्गा के मन्त्रभेदों का इस प्रकार वर्णन है :

ॐ नमो भगवति ऐं हिलिहिलि मिलिमिलि गङ्गे मां पावय पावय स्वाहा।

यह 27 अक्षरों का मन्त्र है।

ॐ नमो हृदयाय नमः 1। भगवति शिरसे स्वाहा 2। ऐं हिलिहिलि मिलिमिलि शिखायै वषट् 3। गङ्गे मां पावय पावय कवचाय हुम् 4। स्वाहा नेत्रत्रयाय वौषट् 5। इससे पञ्चाङ्ग न्यास करें।।1।।

अन्यः। ऐं हिलिहिलि मिलिमिलि गङ्गे मां पावय पावय स्वाहा।

यह बीस अक्षरों का मन्त्र है।

ऐं हिलिहिलि हृदयाय नमः 1। मिलिमिलि शिरसे स्वाहा 2। गङ्गे मां शिखायै वषट् 3। पावय कवचाय हुम् 4। पावय नेत्रत्रयाय वौषट् 5। स्वाहा अस्त्राय फट् 6। इससे षडङ्गन्यास करें।

अन्यः। ॐ हिलिहिलि मिलिमिलि गङ्गे देवि नमः।

यह पन्द्रह अक्षरों का मन्त्र है।

ॐ हिलि हृदयाय नमः 1। ॐ हिलि शिरसे स्वाहा 2। ॐ मिलिमिलि शिखायै वषट् 3। गङ्गे कवचाय हुम् 4। देवि नेत्रत्रयाय वौषट् 5। नमः अस्त्राय फट् 6। इस प्रकार न्यास करें।

अन्यत्। ॐ ह्रीं श्रीं नमो भगवति गङ्गे दयिते नमो हुं फट्।

यह 18 अक्षरों का मन्त्र है।

ॐ ह्रीं श्रीं हृदयाय नमः 1। नमः शिरसे स्वाहा 2। भगवति शिखायै वषट् 3। गङ्गे दयिते कवचाय हुम् 4। नमो नेत्रत्रयाय वौषट् 5। हुंफट् अस्त्राय फट् 6। इस प्रकार न्यास करें।

अन्यत् ध्यानपूजादिकं सर्वं पूर्ववत्। तथा च : चतुर्णा मन्त्राणामुपास्तिः पूर्ववन्मता इति वचनात्।

इस प्रकार गङ्गामन्त्र विंशत्यक्षर, सप्त विंशत्यक्षर, पञ्चदशाक्षर तथा अष्टादशाक्षर—चार प्रकार के होते हैं। इनमें ध्यान पूजादिक पूर्ववत् ही होता है और इन चारों मन्त्रों की उपासना भी पूर्ववत् ही होती है। कहा भी गया है :

एषां चतुर्णा मन्त्राणामुपास्तिः पूर्ववन्मता।
गङ्गायां त्यजते प्राणान् यस्तु पुण्यप्रभावतः।
ज्ञानतो मोक्षमाप्नोति वैकुण्ठं तदभावतः।
स्वर्लोकाद्या महेशानि ! गङ्गां पापविवर्जिताः॥

तान्त्रिकों के द्वारा गङ्गा की विशेष पूजा होती थी *मन्त्रसार* में गङ्गा का सम्बन्ध शिव तथा विष्णु से बतलाया गया है (ओम् नमः शिवायै नारायणायै दशरथायै गङ्गायै स्वाहा)। माता गङ्गा को ध्यान के साथ-साथ आवाहन करके सुखदा तथा मोक्षदा का नाम दिया गया है—

चतुर्भजा त्रिनेत्रं च सर्वाभरणभूषिता।
रत्नकुम्भासिताम्भोजवरदाभयसत्कराम्॥

सद्यः पातक संहरन्ति सद्यो दुःखविनाशिनी।
सुखदा मोक्षदा गङ्गा गङ्गैव परमा गतिः॥

इस प्रकार आगमिक चिन्तन का यह सिद्ध उद्घोष है—"गङ्गे तव दर्शनान् मुक्तिः।"

सन्दर्भ

1. *ऋग्वेद,* 10/75/5
2. *पद्मपुराण,* अ. 60
3. *ब्रह्मपुराण*, अ. 71
4. *पद्मपुराण*, अ. 42, *मत्स्य पुराण*, अ.106
5. *जातक*, 2/179 (कैंब्रिज अनु)
6. *विमानार्चनकल्प पटल* -20
7. *क्रियाधिकार* 5/180-187
8. *खिलाधिकार* 15/82-85
9. कुमार स्वामी यक्ष, भाग, 2 प्लेट 21, न.1
10. वैनर्जी— *मेमायर आफ आर्केला.*स.न.16
11. कनिंघम—आ.स.रि.भा.9, पृ.41
12. वही भाग. 10 प्लेट 36, और भाग.10, पृ.60
13. कुमारस्वामी—यक्ष भा.2, प्लेट20,न.1
14. काँगड़ा के वैद्यनाथ मन्दिर के लेख, वोलेज- कैटलाग, पृ. 387
15. गोपीनाथ राव — *एलेमेंटस आफ हिन्दू आइकानोग्राफी*, जि. 2, भा. 1 प्लेट 40
16. *शिल्परत्नकोष*, पटल 12,
17. गोपीनाथ राव — *एलेमेंटस आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी*, जि.2, भा,1, पृ.226
18. *विमानार्चनकल्प*, पटल
19. *श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्*-पटल 10
20. *श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्*-पटल 10
21. *श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्* -पटल 10 श्लोक 545
22. तिसृणां मध्यात्तु - एका विष्णुपुरे स्थिता।
    द्वितीया ब्रह्मलोकोर्ध्वेब्रह्मलोकस्य सत्यलोकस्य यदूर्ध्वम् -
    कोटियोजनमानेन सत्यलोकोपरि प्रिये।
    ब्रह्मासनमिति ख्यातं जपासिन्दूरसप्रभम्।।
    इति यद् ब्रह्माणो निवासस्थानं तत्र।
    तृतीया सत्यलोकगा।
    तृतीयैव प्राकाम्यवशात् स्वर्गे चैव किञ्च,
    पुनः सा वै संस्थिता सोममण्डले।।

सोमलोके। एषैव तु—

सोमाच्चैव विनि:सृत्य पुराकाशे व्यवस्थिता।

सोमात् सोमलोकात्

ततोऽहं संस्तुतो देवि ब्रह्मविष्णुपुरः सरैः।

यथा- गङ्गा नदीं महापुण्यां मर्त्यानां हितकाम्यया।

अवतार्य, महादेव मर्त्यलोकं विसर्जय।

आकारादित्यर्थात्। *श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्* पटल 10 क्षेमराज टीका के साथ श्लोक 176-178

23. *श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्* पटल 10 क्षेमराज टीका के साथ श्लोक 179-181

24. *मन्त्र महार्णव,* देवीखण्ड, श्री रामकुमार राय, प्राच्य प्रकाशन, लमही (सारनाथ), वाराणसी-7, सप्तदश तरंग, पृ. 677-680

अध्यक्ष, धर्मागम -विभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी -221005

स्वामी करपात्रीजी के मत में भक्ति और मुक्ति का स्वरूप

कृष्णप्रसाद शर्मा

पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के विभिन्न विषयों पर विचारों की कुछ झलक पूर्व लेखों में देने का प्रयास किया गया है। परन्तु उनके जैसे सर्वांगीण विषयों के ज्ञाता द्वारा लिखित धार्मिक आध्यात्मिक गूढ़ातिगूढ, गम्भीर शास्त्रीय विषयों के गहरे में उतरकर कुछ मुक्ताचयन करना दु:साहस ही है। फिर भी उनके परमज्ञान एवं परम भक्त वाले स्वरूप से परिचय प्राप्त न करना न्यूनता ही रहेगी। 'ज्ञान' 'भक्ति' 'मुक्ति' ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर विषय हैं जिनका विवेचन भारतीय मनीषियों द्वारा सदा से किया जाता रहा है। अपने-अपने ढंग से इन पर विचारकों ने विचार प्रस्तुत किये हैं; परन्तु आज के विषाक्त वातावरण में, जब सभी कुछ कलुषित सा होता जा रहा है एक परम पावन गन्ध का आभास इस देश के वातावरण में स्वामी जी के विचार दर्शन में आज भी भक्तों को होता है। उन्होंने इस विपरीत नास्तिक-प्रायः धर्मविहीन एवं जड़वादी समाज के मध्य देववाणी संस्कृत के साथ-साथ विशुद्ध राष्ट्रभाषा में वैदिक, शास्त्रीय एवं पौराणिक, सनातनी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके वास्तव में महान् उपकार ही किया है भारत पर। संस्कृत में आज भी उपलब्ध विपुल साहित्य को कोई पढता नहीं, आंग्ल भाषा में स्वामी जी लिखते नहीं, अतः आज के व्यस्त समाज को भी इस नवनीत का रसास्वादन शास्त्रनिष्ठ हिन्दी में सुलभ कराके स्वामी जी ने बड़ा उपकार किया है। उनकी लेखन एवं विषय वर्णन शैली अद्भुत है। वे पग-पग पर विमत का उपस्थापन करते हैं फिर उनके पक्ष को रखकर अपना मत प्रकट करते हुये शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा यद्यपि आम बोलचाल की भाषा नहीं है फिर भी जिस शैली से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा में उन्होंने इन गम्भीर शास्त्रीय विषयों को वर्णन किया है उससे वास्तव में राष्ट्रभाषा के कोष की अभिवृद्धि ही हुयी है।

सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "स्वामी जी एक ओर त्यागी महात्मा हैं वहीं दूसरी ओर लोक-संग्रह के लिये निरन्तर प्रयासशील कर्म योगी भी है—उनका तीसरा रूप मुझे सबसे अधिक आकृष्ट करता है। वह है उनका भक्त रूप.....। अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता और अक्लान्त धर्म निष्ठा के आवरण में वस्तुतः स्वामीजी महान् भगवद् भक्त हैं। भक्ति का कोई प्रसंग आते ही उनका यह प्रेमिक रूप सब कुछ को पीछे छोड़कर श्रोताओं को अभिभूत कर देता है। .... भागवत की कथा सुनाते समय वे प्रायः भगवान् के प्रेमिक रूप में अपने आपको निमज्जित कर देते हैं—....।" उनकी इसी उच्च स्थिति का वर्णन करते हुए डॉक्टर विद्यानिवास मिश्र कहते हैं—"शास्त्र की मर्यादा का निरन्तर ध्यान रखने वाले स्वामी जी भक्ति की बात करते समय सब कुछ भूल जाते हैं....।" स्वामी जी पूर्णतः अद्वैतवादी हैं, वेदान्त सिद्धान्त के

अधिकारी प्रवक्ता ही नहीं अपितु परम वीतराग और भगवान् आद्य श्री शंकराचार्य के शांकर सिद्धान्त को जीवन में अक्षरशः उतारने वाले वेदान्तनिष्ठ हैं, निर्मोही हैं, निर्मम हैं, उन्हें वास्तव में कहीं लगाव नहीं है। वे बड़े कठोर हैं परन्तु स्वामी जी वर्तमान समय में भक्तिरस के उतने ही मर्मज्ञ हैं जितने कि अपने समय में भगवान् आद्य श्री शंकराचार्य जी महाराज थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में साहित्य विभागाध्यक्ष डॉक्टर रेवाप्रसाद द्विवेदी का कथन है—"साहित्य शास्त्र पर आपका ग्रन्थ है *'भक्ति रसार्णव'*, इसमें भजनीय तत्त्व के रूप में पहले आपने ईश्वर तत्त्व की सिद्धि की है। इसे समझना साहित्य शास्त्र के सामान्य विद्वानों के लिये असम्भव है। सभी वादों को प्रस्तुत करते हुये रस को लौकिक और अलौकिक दो कोटियों में अवस्थित बताया है आपने। अलौकिक रस भक्ति रस है और शृंगारादि रस उसके अंग हैं।.... स्वामी जी भक्ति को रस मानने के सम्प्रदाय में आधुनिकतम आचार्य है। स्वामी जी मुक्ति और भक्ति पर विचार करते हुये लिखते हैं कि—"कहा जाता है कि अद्वैतवाद की कैवल्य मुक्ति पाषाण कल्प है, वहाँ किसी भी प्रकार सौख्य एवं उसकी सामग्री नहीं होती। भगवान् की मंगलमयी लीलाओं का जहाँ स्फुरण हो, वही परमपुरुषार्थ है। इतना ही क्यों, भावुकों का तो यह कहना है कि मुक्ति से भी श्रेष्ठ भगवान् की भक्ति है। इसलिये भक्त लोग मुक्ति की परवाह न करके केवल भक्ति चाहते हैं—भक्तिरस की ऐसी अद्भुत महत्ता है कि मुक्ति या ब्रह्मानन्द भक्ति रसामृत सिन्धु के परमाणु की तुलना में भी नहीं आ सकते—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष द्विपरार्द्धगुणी कृतः।
नैति भक्ति रसाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।

जो भगवान् की कथामृताब्धि का निरन्तर अवगाहन करते हैं, वे चतुर्वर्ग को तृण के समान समझते हैं। स्वामी जी पूर्व पक्ष रखते हुये लिखते हैं कि "कुछ लोग कहते हैं कि प्राणी का जब तक भुक्ति-मुक्ति-स्पृहारूप पिशाची से पीछा नहीं छूटता, तब तक भक्ति सुख का उदय होना कठिन है—साथ ही कुछ लोग कैवल्यमोक्ष का ही महत्व गाया करते हैं और भक्ति को अन्तःकरण की वृत्ति ही कहते हैं। उनका कहना है कि इसीलिये सर्वत्र ही शास्त्रों से प्राप्त रूप मोक्ष का ही का विचार किया गया है। भक्ति तो एक साधन रूप से ही यत्र-तत्र आदरणीय बतलायी गयी है।"—स्वामी जी का इस पर कथन है कि "यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो दोनों ही ओर सार है। कमी यही है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहता। इतना ही नहीं, किन्तु एक दूसरे पक्ष को घृणा की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः शब्दों से भले ही कोई कहले कि मुझे नहीं चाहिए, परन्तु जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, शोक और मोहादिशत संकुलित संसार में छुटकारा पाना किसे अभीष्ट न होगा? स्वामी जी प्रश्न करते हैं कि "क्या विकराल नेत्र-व्यथा और उदर-शूल व्यथा का मिटना मन नहीं चाहता ? फिर सर्वोपद्रव तथा सर्वताप निवृत्ति रूप मुक्ति से किसे अरुचि हो सकती है? हाँ स्वस्वरूपभूत परमानन्द रसामृत सिन्धु भगवान् में स्वाभाविकी प्रीति भी कम महत्व की नहीं है।" —"जहाँ पहले-पहल मोक्ष की वाञ्छा ही दुर्लभ है, तो फिर मोक्ष स्पृहा, विनिर्मुक्त होने की भावना, कितनी बड़ी बात है? फिर भी अवश्य एक ऐसी स्थिति है, जहाँ प्राणी को गुण मात्र से निःस्पृह होना ही पड़ता है।" —"तत्परं

पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्"वशीकारसंज्ञक 'अपरवैराग्य से भिन्न एक 'परावैराग्य' होता है, जो कि पुरुष स्वरूपसाक्षात्कार से होता है। गुणों से वितृष्ण होना ही उसका स्वरूप है। गुणों में सर्वश्रेष्ठ सत्त्वगुण है, सत्त्व का भी सर्वोत्कृष्ट दिव्य परिणाम है परब्रह्माकाराकारित वृत्ति। उससे भी वितृष्णता होनी ही पर वैराग्य है, क्योंकि यह (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) वृत्तिपरिणामिनी प्रति संक्रमण शीला, सान्त होती है, तद्विपरीत निर्विकारानन्दरूपा चिति अपरिणामिनी, अप्रति-संक्रमणशील, शुद्ध, अनन्त होती है। अतः गुण परिणाम चाहे जैसा भी क्यों न हो, वह सर्वथा हेय पक्ष में ही है। अतः वितृष्णता ही 'परवैराग्य' है। परवैराग्य सम्पन्न व्यक्ति ही स्वात्मरति लक्षण भक्ति का अधिकारी होता है। वस्तुत: ऐसी स्थिति पर पहुँचे हुये मुक्त मुनीन्द्रों की ही मुक्ति स्पृहा मिटती है और वे ही परमुख्यभक्ति के मुख्य अधिकारी हैं।" —स्वामी जी इस विवेचन को आगे बढ़ाते हुये लिखते हैं कि—"वैसे तो भक्ति सुरसरि में सभी अवगाहन के अधिकारी हैं, एक पतित भौ और एक मुक्त मुनीन्द्र भी। वस्तुत: भगवद् भक्ति से ही व कर्मयोग, ज्ञानयोग दोनों की ही सफलता होती है। उसके बिना किसी की भी सफलता नहीं। इसीलिये मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि भक्ति ही कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों का साधन है। अतएव देहली-दीपक-न्याय से दोनों का उपकार करने के लिये, कर्म और ज्ञान दोनों के मध्य में, भक्ति और उपासना की स्थिति होती है। साथ ही वह दोनों का फल भी है।" —"वही भक्ति दोनों को परिपुष्टि करके स्वयं ही दोनों के फलस्वरूप में भी व्यक्त होती है अर्थात् वही भक्ति परमात्मस्वरूप में श्रद्धा तथा प्रीतिरूप में विराजमान होती है, फिर परमात्मस्वरूप साक्षात्कार के अनन्तर परमात्मप्रीतिरूप भक्ति प्राप्त होती है, परन्तु वह भक्तिजन्य नहीं है। नित्य प्रत्यक् चिदात्मा सदा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद होता है, परन्तु वहाँ प्रेम और प्रेम का आश्रय एवं विषय पृथक्-पृथक् नहीं है, तभी अत्यन्त अभेदवादी अद्वैतवादी वेदान्ती भी अपने निर्विशेष प्रत्यक् चैतन्या-भिन्न परमात्मस्वरूप की समस्त प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद मानते है। अतः ज्ञान के अनन्तर **'आत्मरतिरात्मक्रीडः', 'यस्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः'**—इत्यादि स्थलों में जो आत्मरति पद से कहा गया है, वह स्वात्म स्वरूप ही प्रेम है। भक्तिरसायनकार ने भी द्रवीभूत चित्र पर प्रादुर्भूत निखिलरसामृत मूर्ति भगवान् को शुद्ध प्रेम कहा है।

भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्।।

'रसो वै सः'—इत्यादि श्रुतिसिद्ध रस स्वरूप परमात्मा ही सर्वजगत् का कारण है। कारण ही समस्त कार्यों में विराजमान होता है। इस रूप से रसात्मिका भक्ति स्वभाव से ही सर्वगत है। मुक्ति के विषय में यह भी कहा गया है कि भवबन्ध और मोक्ष दोनों संज्ञायें अज्ञान से हैं। वस्तुतः स्वप्रकाश सत्यज्ञानानन्दात्मा भगवान् से भिन्न होकर कोई वस्तु ही नहीं है। स्वप्रकाश सूर्य में केवल दिन और रात की कल्पना है। विचार करने पर सूर्य से भिन्न होकर कोई वस्तु नहीं है। यदि बन्ध नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, तो फिर उसकी निवृत्ति ही कैसे तात्त्विक हो सकती है? इसी अभिप्राय से शुद्ध आत्मस्वरूप-परिनिष्ठित महापुरुष बन्ध और मोक्ष दोनों को ही अतात्त्विक समझकर सर्वनिरपेक्ष होकर आत्मरति सम्पादन करते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न च मुक्त इत्येषा परमार्थता।।

'वास्तव में न निरोध है न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध हैं, न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त है। अनन्त, अखण्ड, शुद्ध, अद्वैत ही परमार्थ तत्त्व है'—इस दृष्टि से अद्वैतवादियों की दृष्टि में मोक्ष नगण्य ही है। स्वामी जी आगे कहते है कि 'यदि इसी तत्त्व को दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय, तो मोक्ष परमार्थ भगवत्स्वरूप ही ठहरता है। अविद्या लक्षण बन्ध की निवृत्ति मुक्ति है। इस पक्ष में भी यही शंका होती है कि यह बन्ध निवृत्ति सती है या असती है ? सत्स्वरूप कहने से उसमें साधन की व्यर्थता आती है, असत्स्वरूप कहें, तो खपुष्पादिवत् साध्यता अनुपपन्न रहती है। तीसरा पक्ष इसलिये अनुपपन्न है कि एक में सदसत्स्वरूपता अनुपपन्न है। इस तरह अनेक पक्ष उठने के बाद यह कहा गया है कि अधिष्ठानस्वरूप अन्तरात्मा ही बन्ध निवृत्ति है। तब तो उसके लिए साधनानुष्ठान व्यर्थ ही है। इसका समाधान बताते हुये स्वामी जी आगे लिखते हैं—"ज्ञात आत्मा ही बन्ध निवृत्ति है, केवल आत्मा नहीं। अतः साधनानुष्ठान से ज्ञानोत्पादन द्वारा आत्मा में ज्ञातता उत्पन्न की जाती है। इस पर भी यह आक्षेप होता है कि फिर तो उत्पन्न होने वाले अन्तःकरण-वृत्ति रूप ज्ञान के नष्ट होने पर आत्मा की ज्ञातता भी अवश्य ही नष्ट होगी; अतः बन्ध निवृत्ति रूप मुक्ति भी अनित्य ही रहेगी। यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे 'कारीरीयाग' का फल आसन्नकाल विशिष्ट वृष्टि न होकर आसन्नकालोपलक्षित वृष्टि ही है, वैसे ही ज्ञातता-उपलक्षित चिदात्मा ही बन्धनिवृत्ति है।" स्वामी जी आगे और स्पष्ट करते हैं कि "तत्त्व ज्ञान के पहले आत्मा सावरण रहता है, तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर अनादि, अनिर्वचनीय आवरण नष्ट होने पर यह निरावरण हो जाता है। बस वह निरावरण ब्रह्म ही बन्धनिवृत्ति या मोक्ष है।" इसी अभिप्राय से वेदान्तियों का कथन है कि अज्ञात प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मा ही वेदान्त का विषय है और ज्ञात पर वही वेदान्त का प्रयोजन है। अतएव आत्यन्तिक अनर्थ की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष परमात्मस्वरूप ही ठहरता है। प्राप्ति भी उसकी उसी प्रकार है, जैसे विस्मृत कण्ठमणि की प्राप्ति। अतएव प्रह्लाद प्रभृति भक्तों ने अपने श्रीहरि को अपवर्ग रूप माना है। अन्यथा यदि मुक्ति स्वप्रकाश परमानन्ददायक भगवान से भिन्न हो, तब तो अद्वैतवादियों का अद्वैत भंग होना अनिवार्य ही होगा।

मुक्ति तत्त्व पर विशद एवं व्यापक तात्त्विक विवेचन करते हुए स्वामी जी आगे पुनः विचार प्रस्तुत करते हैं कि "शून्यवादियों के मत से प्रदीपकल्प विज्ञानात्मा का मिट (बुझ) जाना ही मुक्ति या निर्वाण है। परन्तु वेदान्ती की दृष्टि से तो प्रदीप का भी बुझना अत्यन्त मिटना नहीं है। जो व्यापक अग्नि घृतवृत्तिका के सम्पर्क से दाहकत्व-प्रकाशकत्व विशिष्ट प्रदीप शिखा के रूप में व्यक्त था, वहीं अग्नि अपने सोपाधिक रूप को छोड़कर निरुपाधिक विशुद्ध अग्नि के रूप में अवस्थित होता है। ठीक उसी तरह बुद्धि आदि उपाधि के सम्पर्क से जीव भावापन्न चिदात्मा सोपाधिक स्वरूप से मुक्त होकर निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है। ऐसी स्थिति में स्वप्रकाश व्यक्त भावापत्ति, शुद्धस्वरूप या ज्ञान किंवा निरावरण ब्रह्मरूप मुक्ति भगवत्स्वरूप ही ठहरती है।

अतएव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'अत्र ब्रह्म समश्नुते', 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव', 'विशते तदन्तरम्',—इत्यादि गीता-वचनों से भी यही तत्त्व सिद्ध होता है। स्वामी जी कहते हैं कि "यदि ब्रह्मरूप ही मुक्ति है, तब तो ब्रह्म अनन्त परमानन्द रूप है, उससे भिन्न बड़ी दूसरी वस्तु की कल्पना भी नहीं हो सकती। निरतिशय वृहत एवं स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप ही तो 'ब्रह्म' है। अतः जिस वस्तु में 'मुक्ति' से बड़ी कोई वस्तु है—इसका अर्थ होगा कि अनन्त ब्रह्मरूप भगवान् से भी बड़ी कोई वस्तु है। जो ब्रह्म से भिन्न और बड़ा कुछ मानते हैं, यह उसकी श्रद्धामात्र है, क्योंकि दृढ़ प्रमाणशून्य अर्थ में विवाद व्यर्थ होता है। वस्तुतस्तु—"**यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्,** इत्यादि श्रीमद्भागवत् के पद्यों में परमानन्द पूर्ण ब्रह्म को ही भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों एवं गीता का परम पर्य्यवसान एक, अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश ब्रह्म में ही है। स्वामी जी स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "यदि उससे भिन्न तत्त्व ही भगवान् माना जाता हो, तो वैदिक तो उसे मानने में असमर्थ ही रहेंगे। ऐसी स्थिति में मुक्ति प्राप्ति और भगवत्प्राप्ति एक वस्तु होती है। अतः मुक्ति से वैराग्य मानो भगवान् से ही वैराग्य होगा। सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति तक तो हेय पक्ष में है, अतः उससे वैराग्य उचित ही है, परन्तु भगवद्रूप मुक्ति से वैराग्य सचमुच तत्त्वानभिज्ञता ही है।

स्वामी जी मुक्ति पक्ष के उपयुक्त तात्त्विक विवेचन के अनन्तर मुक्ति और भगवान् की एकरूपता बताकर आगे भक्ति तत्त्व के विषय में लिखते हैं कि—"जो भगवान् प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद हैं" उनसे वैराग्य कैसा ? फिर भगवान् में राग को ही तो 'भक्ति' कहते हैं। भगवत्स्वरूप मुक्ति से भक्ति में बड़प्पन की कल्पना और मुक्ति-स्पृहा को पिशाची कहना कहाँ तक संगत है, क्योंकि मुक्ति राग और भगवद्राग तो एक ही वस्तु है और वही 'भक्ति' है। रागास्पद से राग का बड़प्पन कहा जा सकता है, तो भगवद्रूप मुक्ति से भक्ति को भी बड़ा कहा जा सकता है। मुक्ति या भक्ति की भगवान् को प्राप्त पुरुषों को स्पृहा न हो, यह भी असम्भव है, क्योंकि भगवान् तो सदा निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेम के आस्पद हैं। इसे स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि—'इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञानी या मुक्त भक्ति की उपेक्षा करते हैं। आत्मरति और आत्मक्रीड़ इत्यादि प्रकार से वर्णित रसस्वरूप भक्ति तो भगवत्स्वरूप ही है, उसमें उत्कर्षापकर्ष की कल्पना या उपेक्षा की सम्भावना नितान्त भ्रम-मूलक है।

मुक्ति तत्त्व एवं विवेचन एवं मुक्ति व भक्ति की एकरूपता का वर्णन करते हुए स्वामी जी भक्ति की ओर बढ़ते ही अपने ज्ञानी, वैरागी, तपस्वी स्वरूप की विस्मृति सी करके भक्ति रसामृता सिन्धु में निमज्जन करते से प्रतीत होने लगते हैं; अब उनका भक्त रूप शेष रह जाता है; शरीर में रोमांच हो उठता है, वाणी गद्गद् एवं नेत्र प्रेमाश्रुओं से पूरित हो जाते हैं, उनके अन्तःकरण में वह मूर्तिमान वेदान्त तत्त्व नाचने लगता है और वह गलश्रुधार हो जाते हैं। भक्ति की उस उच्चस्थिति में पहुँच कर मन के कुछ सावधान होने पर गद्गद् वाणी से भक्त करपात्री जी कहते हैं कि 'रही भगवदाकारकान्ति स्निग्ध अन्तःकरण वृत्तिरूप भक्ति की बात, वह भी कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकती। पहले तो इसी के प्रभाव से सब कुछ हुआ और इसी के प्रभाव से ज्ञान में भी सरसता है। कहा है—

अहो चित्र महोचित्रं वन्दे तत्प्रेम बन्धनम्।
यद बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्।।

'कोई निराकार निर्विकार परब्रह्म को भजते हैं, कोई सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की वन्दना करते हैं, पर मैं तो उस अद्भुत प्रेम बन्धन की वन्दना करता हूँ जिसमें बंधकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त प्राणियों को मुक्ति प्रदान करने वाला और स्वयं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव परब्रह्मभक्तों का खिलौना क्रीड़ामृग हो जाता है।' इस तरह जब शुद्ध ब्रह्म से प्रेम बन्धन (भक्ति) की महिमा बढ़ जाती है, तब तो मुक्ति से भी उसकी महिमा का बढ़ना युक्त ही है। भक्ति तत्त्व की महिमा का निरूपण करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि 'निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद भगवान् सभी के अन्तरात्मा हैं, सभी के प्रिय हैं, फिर भी भक्ति के बिना वे नीरस ही रहते हैं। सरसता का लेश भी उनमें नहीं भासित होता।

व्यापक ब्रह्म बिरज अविनासी; सत् चेतन घन आनन्दरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी, सकल जीवजग दीन दुखारी।
नाम निरूपण नाम जतन ते, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते।।

'कंस, शिशुपाल और दन्तवक्त्र को भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन होता था, फिर भी बिना प्रेम के उन्हें उनमें समरसता का भान नहीं होता था। प्रेम का सम्बन्ध होने से साधारण वस्तु में भी सरसता का भान होने लगता है। अत: प्रेम का महत्त्व स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त भक्ति तत्त्व एक ऐसी वस्तु है जिसके आशीर्वाद के बिना ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति आदि का प्राप्त होना असम्भव है।' भक्ति की महिमा का बखान करते हुए वे कहते हैं कि "भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति आदि भले ही भक्ति के फल हों, फिर भी बुद्धिमानों की दृष्टि में भक्ति का मूल्य मुक्ति से भी अधिक होता है। जैसे—यद्यपि अर्थ (धन) का फल धर्म और काम (भोग) ही हैं, फिर भी बुद्धिमान या कृपण धर्म और भोग की उपेक्षा करके किंबहुना प्राणान्त कष्ट सहन करके भी धन की रक्षा करता है। उसकी दृष्टि यही है कि यदि अर्थ बना रहेगा, तो जब चाहेंगे तभी धर्म और भोग सम्पन्न हो सकेंगे। जैसे हीरकादि रत्नों के रहने पर समस्त पदार्थ सुलभ होते हैं, वैसे ही भक्ति के रहने पर समस्त पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। किंबहुना ज्ञान और वैराग्य, जो कि मुक्ति प्राप्ति के मूल हैं, वे भी तो महारानी शक्ति के ही पुत्र हैं और सदा उन्हें भक्ति के शुभाशीर्वाद की अपेक्षा रहती है। इसलिए सन्तजन मुक्ति की परवाह न करके भक्ति को चाहते हैं—

अस विचारि हरि भगत सयाने, मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।

चिंतामणि भक्ति से ही चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति सुगमता से ही हो जाती है।

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
सर्वं मद्भक्तियोगेन भद् भक्तो लभतेऽसा।

कर्म, ज्ञान और वैराग्य आदि से प्राप्त होने वाली सभी वस्तुयें भक्ति से प्राप्त हो सकती हैं। अति दुर्लभ कैवल्यपरमपद भी भक्ति की महिमा में न चाहते हुए भी प्राप्त होता है—

अति दुर्लभ कैवल्यपरम पद, वेद पुराण निगम अगम वद।
भक्ति करत सोई मुक्ति गुसाईं, अन इच्छित आवै बरियाई।

जैसे स्थल के बिना जल टिक नहीं सकता, वैसे ही भक्ति के बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई, तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।

भक्ति की महत्ता बताते हुए स्वामी जी कहते हैं कि "जितने भी व्यापार होते हैं, सभी साधन से ही सफल होते हैं, साध्य-गोचर व्यापार होता ही नहीं। कुठार के उद्यमन-निपातन से ही काष्ठ का द्वैधी भाव रूप फल सिद्ध होता है। अतः उस मूल में ही आदर होना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से मुक्ति से भी या भगवान् से भी अधिक भक्ति का महत्व गाया जाता है। इन्हीं आशयों से भावुकों का कहना है कि मुक्ति में तो भक्त भगवान् हो जाता है, परन्तु भक्ति से तो भक्त भगवान् को वश में कर लेता है। इसीलिए सर्वाधिक आकांक्षा भक्त को भक्ति की ही होती है—

धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न च निर्वाण।
जन्म जन्म रति रामपद यह वरदान न आन।।

स्वामी जी भक्ति के भेदों का दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं कि "भक्ति शास्त्र में अमित के अनेक भेद कहे गये हैं। वैसे लोग भी साधन शक्ति और साध्य शक्ति इसके दो भेद मानते हैं। परन्तु यहाँ दो प्रमुख प्रकारों का उल्लेख करना है, वे हैं 'वैधी' और 'रागानुगा'। विधि वहाँ होती है जहाँ अत्यन्त अप्राप्ति हो—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ।" कामुक की कामिनी में स्वाभाविक अनुरक्ति होती है, वहाँ विधि की आवश्यकता नहीं है। भगवान् में स्वाभाविक अनुरक्ति नहीं है, अतः वहाँ विधि की अपेक्षा है; शास्त्रों में इसका विधान पाया जाता है कि जिसे अभय प्राप्ति की इच्छा हो, उसे सर्वात्मा-परमेश्वर हरि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। वैधी भक्ति के लिए भगवान् का ऐश्वर्यमय रूप होना चाहिए। वैसे तो भगवान् के अनन्त रूप हैं, पर उनका विभाग तीन प्रकार से किया गया है—निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार। इन तीनों रूपों का वर्णन करते हुए स्वामी जी लिखते हैं कि "स्वयंत्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः" से निर्गुण-निराकार, निर्विकार रूप तथा "स्वराज्य लक्ष्म्याप्तसमस्तकाम:" से अनन्त कल्याणगुणगण निलय सगुण-निराकार रूप कहा गया है। अनन्त कोटि कन्दर्पदर्प दमन पटीयान्, अनन्त कल्याण गुणगणनिलय, मधुर, मनोहर, सौन्दर्य सुधा-सिन्धु भगवदीय मङ्गलमय सगुण-साकार विग्रह के लिए क्या कहा जाये? इस रूप को तो भक्त जैसा चाहें वैसा बनाते हैं, इसीलिए कहा जाता है कि संसार को बनायें भगवान् और भगवान् को बनाये भक्त। ... भक्त लोग अपने चित्त से जिस-जिस रूप की भावना करते हैं, भगवान् भक्तों पर अनुग्रह करके वही-वही

रूप धारण करके भक्तों को दर्शन देते हैं।" एक सगुण साकार रूप से भगवान् वैकुण्ठधाम में विराजते हैं। उस स्वरूप के अनन्त गुणाश्रयत्व एवं महामहिम ऐश्वर्य सम्पन्नत्व का वर्णन "बलि हरद्भिश्चिरलोकपाल-किरीटीडितपादपीठ" से किया गया है। "... इतना ऐश्वरीय ज्ञान होने पर भी उनको न भजने से पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि अनेक अनर्थ परिलुप्त भीम भवाटवी में भटकना पड़ेगा, इस अनर्थ का बोध होने से प्राणी को वैधी भक्ति का आश्रय लेना पड़ता है।" स्वामी जी यहाँ प्रश्न उपस्थित करते हैं कि "भगवान के साकार होने का कारण क्या है ?" फिर स्वयं ही उत्तर देते हैं कि "परमहंसमहामुनीन्द्रों को 'श्री परमहंस' बनाने के लिए भगवान् का अवतार होता है।" उनके भक्तियोग विधान के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। भगवद् शक्ति के बिना ज्ञान शोभित नहीं होता। वह स्वरूप ऐसा सुन्दर होता है कि भगवान् स्वयं अपनी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता भूलकर उसे देखते ही नाच उठते हैं—

रूपराशि छबि अजिर बिहारी, नाचहू निज प्रतिबिम्ब निहारी।

जनक जी भी कहने लगे—

इनहिं बिलौकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।

स्वामी जी आगे बताते हैं कि "एक तो हंस होते हैं प्रकृति-पुरुष को सर्वथा नीर-क्षीर के समान पृथक्-पृथक् समझने वाले सांख्यवादी। दूसरे होते है, वे परमहंस, जिनकी दृष्टि में अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपञ्च रहता ही नहीं। उनके हृदय में भक्ति का अंकुर उत्पन्न होते ही वे 'श्री परमहंस' हो जाते हैं। भक्ति और ज्ञान का पारस्परिक विरोध अनभिज्ञ लोग समझते हैं। "... आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, महामुनीन्द्र भी भगवान् की भक्ति करते हैं। क्यों ? तो शास्त्र उत्तर देते हैं—'इत्थंभूतगुणो-हरिः। इसी भक्ति को 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति गोपांगनाओं की थी। ... व्रजांगनाओं का इतना नि:सीम अनुराग है कि, मुनि लोग ध्यान, धारणा आदि के द्वारा विषयों से मन हटाकर जहाँ जोड़ना चाहते हैं, गोपांगनायें वहाँ से मन हटाकर विषयों में लगाना चाहती हैं। योगीन्द्र-मुनीन्द्र क्षण मात्र हृदय में जिसकी स्फूर्ति के लिए उत्कण्ठित होते हैं, वे मुग्धायें भक्तिन उसी को हृदय से निकालना चाहती है। ऐसी भक्ति जिसे प्राप्त है, उसके सौभाग्य का क्या कहना? उस पर स्वाभाविकी भक्ति की प्राप्ति भी भगवत्कृपा पर अवलम्बित है और भगवत्कृपा भगवादाज्ञाभूत श्रुति-स्मृत्युक्त स्वस्व कर्त्तव्य के पालन पर ही निर्भर है। अन्त में स्वामी जी स्पष्ट सिद्धान्त निश्चित करते हुए कहते हैं कि 'भगवद्-भक्ति के सम्पादनार्थ भी शास्त्रोक्त कर्त्तव्यों का अनुष्ठान परमावश्यक है।

धर्मसंघ प्रकाशन
34/3 शास्त्रीनगर,
मेरठ-2 (उत्तरप्रदेश)

शाक्तागमस्वरूपविमर्शः

दीपकपालीवालः

समस्तजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणस्य श्रीमदनन्तशुभगुणयुक्तस्य सर्वेश्वरस्य शिवशक्तिगणपतिस्कन्दादि-भेदयुक्तस्य परमेश्वरस्य शरणागतिप्राप्त्यर्थं दुःखत्रयनिवारणार्थं च निगमागमौ कुञ्चिकाद्वयं प्रसिद्धौ स्तः। तत्र निगमाः वेदनाम्ना आगमाश्च तन्त्रनाम्ना अभिधीयन्ते। आप्राचीनकालात् कृतायुगादारभ्येदानीं कलियुगं यावत् चत्वारि स्रोतांसि मानवानामभ्युदयनिःश्रेयससिद्धौ सहायकानि अवलोक्यन्ते। एतेषु आगमोऽपि विशिष्यते। अधुना प्रश्नोयम् उत्पद्यते श्रुतिस्मृती सत्यपि का आवश्यकता तन्त्रागमशास्त्राणाम्? अस्योत्तरं श्लोकेऽस्मिन् दृष्टव्यम्।

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः।।[1]

कलौ युगेऽस्मिन् आगमग्रन्थानां सर्वाधिकप्रासङ्गिकतास्तीति आगमविदामभिमतम्। विनाऽऽगमज्ञानं निगमानां वास्तविकं ज्ञानं न सम्भवति। आचार्यश्रीकण्ठो वदति—"वयं तु वेदागमयोर्भेदं न पश्यामः।"[2]

आगमशब्दोऽयमतीव व्यापकोऽस्ति। 'आङ्' पूर्वकात् गम्लृधातोः "'गृहवृदृविनिश्चिगमश्च"[3] अनेन सूत्रेण 'अप्' प्रत्यये निष्पन्नोऽयमागमशब्दः। वाचस्पतिमिश्रः आगमस्य एवं व्युत्पत्तिं प्रतिपादयति यत् "आगच्छति बुद्धिमारोहति अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः यस्मात् स आगमः।"[4] आगमः सप्तलक्षणसमन्वितो भवति। यथा—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथाऽर्चनम्।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।।।
षट्कर्मसाधनञ्चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तं त्वागमं तद्विदुर्बुधाः।।[5]

शब्दकल्पद्रुमे एवं परिभाषा अस्ति।

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतञ्च गिरिजानने।
सुमतं वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते।।[6]

आदौ आगमः साधरणतया द्विधा विभज्यते यथा—वैदिकागमः, अवैदिकागमश्चेति। तत्र वैदिकागमाः षड्विधास्सन्ति। यथा—वैष्णवागमः, शैवागमः, गाणपत्यागमः, कौमारागमः, सौरागमः, शाक्तागमस्य त्रिपुरागम-कौलागम-क्रमिकागम-त्रिकागमभेदाः, हीनयानस्य योगाचार-माध्यमिकभेदौ महायानस्य च वैभाषिक-सौत्रान्तिकभेदौ इत्येवं भेदोपभेदाः आगमिकवाङ्मये बहुभिः प्रकल्पिताः सन्ति। विविधागमानां मध्ये किं वैशिष्ट्यं माहात्म्यञ्च शाक्तागमस्य इति विचारयामः?

समेषाम् आगमानां मुख्यविषयास्तु जप-ध्यान-यज्ञ-अर्चाः च भवन्ति। एतेषामनुष्ठानेन पुरुषार्थचतुष्टयोपलब्धिर्भवति। उक्तञ्च—

जपध्यानहुतार्चादीनेवं यः कुरुते सदा।।
धर्मार्थकाममोक्षाणां भाजनं स्यात्स एव हि।।[7]

वस्तुतः न केवलं शाक्तागमस्य अपि तु सर्वेषामागमानाम्पादचतुष्टयं भवति। यथा—1. ज्ञानपादः (दार्शनिकाध्यात्मिकाज्ञानप्रतिपादकः)। 2. योगपादः (योगमाध्यमेन मानससंयमन विधिप्रतिपादकः) 3. चर्यापादः (मन्दिरनिर्माणार्थं मूर्तिनिर्माणार्थं च निर्दिष्टनियमप्रतिपादकः) 4. क्रियापादः (धार्मिकपर्वोत्सवानां नित्यनैमित्तिकपूजोपचाराणां च प्रतिपादकः) इति।

एवमत्र नवविषयाः क्रियाभागे तत्त्वालोचनं च ज्ञानभागे आलोच्यन्ते। क्रियाभागे आलोचिताः नवविषयाः यथा—

1. देवालयकल्पनम् 2. विग्रहकल्पनम् 3. प्रतिष्ठा 4. अर्चनम्
5. स्नपनम् 6. उत्सवाः 7. प्रायश्चित्तम् 8. ज्ञानम् 9. चर्या

विविधेषु आगमेषु विष्णु-शिव-शक्ति-गणपति-स्कन्द-सूर्यादयः देवताः मूर्तरूपेणामूर्तरूपेण च अर्च्यन्ते। एषा अर्चना त्रिविधा भवति यथा- 1. मानसार्चनम् 2. होमार्चनम् 3. वेरार्चनचेति। हृदये देवाधिदेवं ध्यात्वा यदर्चनं क्रियते सा मानसी पूजा इति कथ्यते। अग्निकुण्डं निर्माय तत्र हविः प्रदानपूर्वकमग्निमण्डले भगवतः यदर्चने विधीयते तत् होमार्चनमिति उच्यते। वेरपूजा समूर्तार्चनं भवति। एषाऽपि द्विविधा- आलयार्चनम्। गृहार्चनं चेति। आलयनिर्माणं कृत्वा तत्र भगवतः प्रतिमां निर्माय विधिना या पूजा विधीयते सा आलया। स्वगृहे नित्यं सकृत् द्विर्वा देवं स्थापयित्वा अर्चनं गृहार्चा इति परिगण्यते। एतेषु सर्वेषु अर्चनेषु आलयार्चा श्रेष्ठा भवति।

सनातनसंस्कृतौ शक्त्युपासना अतीव प्राचीना तथा च इयमेव शाक्तागमस्य प्रधानं लक्ष्यं भवति। आधुनिकसाक्ष्यानुसारेण मोहनजोदारो-हरप्पासभ्यतयोरपि इयं शक्त्युपासना परम्परा प्रचलिताऽऽसीदिति ऐतिहासिकाः वदन्ति। शाक्तपरपरायां सर्वाः देव्यः समागताः। प्रकृतिः, रात्रिः, वाक्, पृथ्वी इत्यादीनामुपासनाऽपि शक्त्युपासनायामन्तर्भवति। ब्रह्मा, विष्णुः, महेश्वरश्चेति परब्रह्मणस्तिस्रोऽवस्थास्सन्ति।

एतेषां शक्तयस्तेषां पत्न्यस्सरस्वती लक्ष्मी पार्वत्य एव। एताः विहाय जगतः सृष्टि-स्थिति-लयाः न सम्भवन्ति। अन्येऽपि देवाः शक्तिं विना निरर्थका एव। अतः शाक्तपरम्परायां ब्राह्मी-वैष्णवी-शैवी-वैनायकी-सौरी इत्यादिपरम्परा उच्यन्ते। दश महाविद्याः, अष्टलक्ष्म्य नवदुर्गाः चतुष्पष्टियोगिन्यः, षोडशमातृकाः, सप्तमातृकाः, इत्यादिभिः सह अन्यासां देवनामुपासना अस्याः परम्परायाः प्रमुख लक्ष्यं भवति।

आगममीमांसाख्ये ग्रन्थे ब्रजवल्लभद्विवेदमहोदयैः शाक्तगमस्य द्विधा विभागः क्रियते। शिवस्य दक्षिणवामवक्त्राभ्यां निःसृतौ आगमौ क्रमशः दक्षिणवामागमौ इति। तन्मते ताविमौ दक्षवामशब्दौ साम्प्रतं न प्रचलितौ अत्रोभयोः 'वामाचार-दक्षिणाचारौ' 'समयाचार-कुलाचारौ' 'भैरव-शाक्तौ' इति च नामानि व्यवहारे दृश्यन्ते। तत्र भैरव-शाक्तपरम्परायां—"इयं (त्रिपुरा) च विद्या चतुराम्नायसाधारण्यपि दक्षिणपक्षपातिनी"[8] इति विद्यानन्दोक्तवचनाधारेण त्रिपुरासम्प्रदायो भैरवागमानुवृतौ भवतीति ज्ञायते। महार्थमञ्जरीकारो-महेश्वरानन्दः द्वितीय शाक्तागमं क्रमिकागम इति वदति। तत्र भैरवागमो भगवता भैरवेणोपदिश्यते। क्रमिकागमानां चोपदेष्ट्री भैरवीकाल सर्षिणी भवति। अतः क्रमिकागमा एव शक्तिपारम्यप्रतिपादकाश्शुद्धा इति वक्तुं शक्यन्ते। काश्मीरं त्रिकदर्शनं प्रत्यभिज्ञादर्शनं वा यद्यपि शैवदर्शनान्तर्गतं भवति तथापि तत्र शिवशक्त्योस्सामरस्यमवलोक्यते एवमत्र शाक्तगमपरम्परायां चतस्रश्शाखा आगममीमांसायामुच्यते यथा—त्रिपुरागमः, कौलागमः, क्रमिकागमः त्रिकागमश्चेति केचन शाक्तागमस्य त्रयो भेदाः निरूप्यन्ते। यथा कौलागमः, मिश्रागमः, समयागमश्च। शाक्तागमे श्रीविद्योपासना अपि भवति। तेषां विभागः त्रिधा क्रियते कादि-हादि-कहादिभेदैः। कादिसम्प्रदायस्य प्रधानदेवता 'काली', हादिसमदायस्य प्रधानदेवता 'त्रिपुरसुन्दरी' च कहादिसम्प्रदायस्य प्रधानदेवता 'तारा' 'नीलसरस्वती' वा भवन्ति।

जगत्कर्तृत्वभोक्तृत्वगुणयुक्ता जगज्जननीशक्तिरेव शाक्तागमस्य विषयः स्वरूपश्च। भगवता शङ्कराचार्येण इयम् शक्तिरेव शिवस्य कारणं स्वीकुर्वन् पूजिता। उक्तश्च—

"शिवशक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्" इति सूक्तिस्वारस्येन शक्तिरत्र परमाराध्यदेवीरूपेण परिगण्यते। शक्त्युपासनायां 'साधना' एव प्रधानाराधना भवति। साधनाक्रमे भूतशुद्धिः, नाडिशुद्धिः, न्यासः (दक्षिणहस्ताङ्गुल्यग्रैश्शरीरस्य विभिन्नाङ्गेषु स्पर्शः-करन्यासः, अङ्गन्यासश्च), कवचम्, मुद्रा, यन्त्रचक्रम्, मन्त्रः, दीक्षा, गुरवः, प्राणप्रतिष्ठा च प्रमुखानि तत्त्वानि सन्ति। एषा साधना द्विविधा 'तपस्साधना' वा 'योगसाधना' वा 'प्राणायामसाधना' इत्येका, 'मन्त्रसाधना' च द्वितीया। इदानीम् उभयोस्सामान्यविचारः क्रियते।

तपस्साधनायां योगप्रतिपादितः प्राणायामः प्रमुखं सोपानम्। अनेन कुण्डलिनीशक्तेः जागरणं क्रियते। सैषा शक्तिः मनुष्यशरीरे विद्यमानात् मूलाधारचक्रात् सहस्रारचक्रे विद्यमानं परमशिवं प्रति प्रसरति, यदा शिवशक्त्योः मेलनं जायते तदा परमशान्तिः मोक्षो वा लभ्यते आदिशङ्कराचार्यपादाः लिखन्ति—

मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि ... चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभृषे।[10]

चित्तस्य कुण्डलिनीशक्तिः जाग्रदवस्थायां 'कुमारी' अनाहतचक्रप्रवेशेन 'योषित्' सहस्रारचक्रप्रवेशेन 'पतिव्रता' इत्युच्यते। एषैवावस्था जीवन्मुक्तिः इति कथ्यते। मानवशरीरे बह्वः नाड्यो भवन्ति। मानवीयभौतिकशरीरे विद्यमानाश्चतुर्दशसंख्याकाः प्रमुखाः नाड्यः योगशास्त्रेषु वर्ण्यन्ते। शरीरेऽस्मिन् उपर्युपरि क्रमशः सप्तचक्राणि भवन्ति। यथा—मूलाधारचक्रम्, स्वाधिष्ठानचक्रम्, मणिपुरश्चक्रम्, अनाहतचक्रम्, विशुद्धिचक्रम्, आज्ञाचक्रं, सहस्रारचक्रं चेति।।

मन्त्रसाधनायां मन्त्रोच्चारणं प्रधानकार्यमुच्यते मन्त्राः वर्णैः रचिताः। मान्त्रिकशैल्या नादानुसन्धानं मूलसूत्रं भवति। शब्दानां क्रमिकोच्चारणं क्रियते। मन्त्रेषु सर्वोत्तममन्त्रः 'पञ्चदशी' भवति। यथा—"क ए इ ल ह्रीं, ह ए क इ ल ह्रीं, स क ल ह्रीं" इति। एषः मन्त्रः ललितायाः त्रिपुरसुन्दर्याश्च उपासनाप्रसङ्गे उच्चार्यते। वर्णमालायाः प्रथमो वर्णः 'अ' शिवस्य प्रतीकः अन्तिमवर्णः 'ह' च शक्तेः। बिन्दुरूपेण 'अहम्' इत्युच्यते।

शक्त्युपासनायाः मार्गद्वयं वर्तते। वाममार्गः दक्षिणामार्गश्च। वाममार्गश्शिवशक्त्योर्मध्ये अभेदं प्रकल्पयति। वाममार्गावलम्बिन एते कौला इत्यप्युच्यन्ते। एते चक्रैः पञ्चमकारैश्च सिद्धि प्राप्नुवन्ति। अत्रोपासना त्रिविधा भवति। यथा—निकृष्टोपासना, मिश्रोपासना, सकलोपासना च। मूलाधारादाज्ञाचक्रं यावत् चक्रेश्वरीरूपेण या उपासना क्रियते सा निकृष्टोपासना इति कथ्यते। निष्कलोपासना सर्वश्रेष्ठा भवति। अत्र पञ्चमकारणां अपि विशिष्टं स्थानम् अस्ति। यथा—

मद्य मांस च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्।।

अत्र 'मद्यं' नाम ब्रह्मरन्ध्रान्निस्सृतस्सोमरसः 'मासं' नाम वाक्संयमः। 'मत्स्य' नाम इडापिङ्गलानाड्योः प्रवहमान-निःश्वासप्रश्वासवायुः। दुष्टसङ्गतेर्मुक्तिः 'मुद्रा'। कुण्डलिनीशक्तेस्सहस्रार चक्रे शिवसायुज्यं मैथुनमिति कथ्यते।

शाक्तागमशास्त्रेषु जगन्मातुः भगवत्याः साक्षात्स्वरूपाः दशमहाविद्याः विद्वद्भिः साधकैश्च गुप्तविद्यारूपेण सङ्केतिताः।

साक्षाद्विद्यैव सा न ततो भिन्ना जगन्माता।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्यायाः रहस्यार्थः।।[12]

दशमहाविद्याः यथा—काली, तारा, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, कमला, त्रिपुरभैरवी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी, मातङ्गी च। अनन्ताथाहसमुद्रवदेव शाक्तागमस्य विषयः। नाना तन्त्रागममार्गे सत्यपि भगवत्याः आगमस्य वैशिष्ट्यम् अद्भुतमेव यथोच्यते—

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो, यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगो।
श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।[13]

भोगमोक्षयोः एकत्रैव स्थानम् अत्र तस्मात् लोके अयं शाक्तागमो विशिष्यते।

सन्दर्भा :

1. *प्रपञ्चसारतन्त्र*, शङ्कराचार्यः
2. आचार्यश्रीकण्ठ— *वेदान्तसूत्रव्याख्या।*
3. पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्र।
4. वाचस्पतिमिश्रः— *तत्त्ववैशारदी सा. भा.*
5. *वाराहीतन्त्रम्*
6. *शब्दकल्पद्रुम*
7. *तन्त्रसारसंग्रह*
8. *विद्यानन्दः* (*अर्थरत्नावली* पृ. 41)
9. *सौन्दर्यलहरी* 1
10. *सौन्दर्यलहरी* 35
11. *सर्वदर्शनसंग्रहः*
12. *वरिवस्यारहस्यम्* 2/107
13. *मङ्गलस्तवम्*

शोधछात्रः संस्कृते
ग्राम-पोस्ट : वरुन्धनी चौराहा
तहसील-माण्डलगढ
जिला -भीलवाड़ा (राजस्थानम्)
पिन-311604
दूरभाष : 9079719740

चिदानन्द की प्राप्ति के चतुर्विध उपाय

डॉ. सुधांशु कुमार शृंगी

साधक के चिदानन्द की प्राप्ति हो जाने के उपरान्त उसके देहादि के अनुभव रहने पर भी चित् के साथ ऐकात्म्य की प्रतिपत्ति दृढीभूत हो जाता है। इस समय वह साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। अत: स्वत: प्रश्न उपस्थित होता है कि इस चिदानन्द की प्राप्ति कैसे होती है। इसके समाधान में कहा जाता है कि मध्य का विकास से ही चिदानन्द की प्राप्ति हो जाती है। यहाँ पर भगवती संवित् को ही मध्य कहा गया है। क्योंकि यह भगवती संवित् ही सबके अन्तरतम रूप से विद्यमान है और जब तक इसकी भित्ति का आश्रय न लिया जाए, तब तक किसी स्वरूप की उपपत्ति सम्भव नहीं हो सकता। यह भगवती संवित् मायादशा में अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाते हुए पहले संवित् प्राण के रूप में परिणत हो गयी है – इस नीति के अनुसार प्राणशक्तिरूप भूमि को स्वीकार करके अवरोह क्रम से बुद्धि, देह आदि भूमि को आश्रय करती हुयी सहस्र नाडियों के मार्ग का अनुसरण करती है।

पण्डित जयदेव सिंह जी के अनुसार यहाँ पर प्राणशक्ति सर्वव्यापी आद्या प्राणशक्ति से है, न कि प्राणी के मध्य रहने वाली प्राणवायु। चिति का अत्मस्वरूप को गोपन करने के लिए और धीरे-धीरे पञ्चमहाभूत में परिणत हो जाने में यह पहला क्रम है। इस प्राणशक्ति को महाप्राण भी कहते हैं। प्राणी के मध्य वह संवित् पलाशपर्णमध्यशाखान्याय से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर अधोवक्त्र तक प्राणशक्ति रूप ब्रह्म के आश्रयभूत मध्यनाडी के रूप से प्रधानरूप में स्थित है। क्योंकि वहीं से ही समस्तवृत्तियों का उदय और वहीं पर ही विश्राम होता है।

यहाँ पर ब्रह्मरन्ध्र का तात्पर्य सहस्रार से हैं। इस प्राणमय कोश में प्राण के भिन्न-भिन्न केन्द्र के रूप से कई चक्र अवस्थित है। इन चक्रों की सङ्ख्या के विषय में तन्त्रशास्त्र में वैमत्य प्राप्त होता है। *योगिनीहृदय* में नौ चक्रों का वर्णन है। जैसे कहा गया है—

नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्।।[1]

श्रीनेत्रतन्त्र में छ: चक्रों को कहा गया है। जैसे –

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम्।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यत:।।

नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम्।।
हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम्।
बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते।।[2]

अर्थात् जन्मस्थान में नाडीचक्र, नाभि में मायाचक्र, हृदय में योगीचक्र, तालु में भेदन, बिन्दु में दीप्ति एवं नाद में शान्तचक्र स्थित है। इनमें से नाद ही ब्रह्मरन्ध्र है। वस्तुत: मध्यनाडी जो सुषुम्ना नाडी है, वह वज्रा और चित्रिणी नामक दो नाडी से मिली हुई है। इनमें चित्रिणी चन्द्ररूपा तथा सत्त्वगुणवाली है, वज्रा सूर्यरूपा तथा रजोगुणवाली है और सुषुम्ना अग्निरूपा तमोगुणात्मिका है। यह त्रिगुणात्मिका नाडी कन्द के मध्यभाग से सहस्रार तक विस्तृत है। और अधोवक्त्र का तात्पर्य नीचे की ओर मुख किया हुआ चक्रविशेष होना चाहिए, जो मूलाधार के रूप से कही जाती है। ये समस्त चक्र मूलाधार से लेकर सहस्रार के मध्य स्थित है। जिसमें भगवती संवित् प्राणशक्ति के रूप से स्थित है। इन चक्रों के जागरण से पशुप्रमाता पतिप्रमाता पद को प्राप्त कर जाता है। भगवती संवित् की यह स्थिति पलाशपर्णन्याय से मूलाधार से सहस्रार तक है। पलाशपत्र की मध्यशाखा से तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार पलाशपत्र के मध्यतन्तु से उस तन्तु से चारों ओर फैली हुयी अन्य तन्तु जुडी हुयी रहती हैं, उसी प्रकार शरीर में जितनी भी नाडियाँ हैं, वे सब सुषुम्ना के साथ जुडी हुयी है। यह ही सुषुम्ना जो कि ब्रह्मनाडी कहलाती है उसमें यह संवित् प्राणशक्ति के रूप में प्रधानरूप से स्थित है। यहीं से ही समस्त वृत्तियों का उदय और लय होता है। इस प्रकार होते हुए भी वह पशुप्रमाताओं के लिए अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाए हुए स्थित है। इसके हेतु साधक को शक्तिपात अर्थात् अनुग्रह की आवश्यकता रहती है। शक्तिपात के बिना साधक उस चिदानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता है। इसलिए साधक शक्तिपात की वाञ्छा रखता है। परन्तु यह शक्तिपात अनायास नहीं होता है। अपितु इसके लिए साधक को उसके योग्य बनना पडता है। इस योग्यता की प्राप्ति हेतु तन्त्रशास्त्र में चार प्रकार के उपाय कहे गए हैं। जैसे –1.अनुपाय, 2. शाम्भवोपाय, 3.शाक्तोपाय और 4.आणवोपाय। ये उपाय साधकस्थित त्रिविध मलों को नष्ट कर देती हैं, जिससे साधक अनुग्रह प्राप्ति हेतु योग्य बनता है।

1. अनुपाय

इन चारों उपायों से अनुपाय को आनन्दोपाय भी कहा जाता है। गुरु के शक्तिपात से शिष्य में शक्ति का संचार होने से एक साथ स्वप्रकाश का उन्मीलन हो जाता है। इसके लिए भावनात्मक अनुसन्धान की आवश्यकता न होने से उपायरहित यह अनुपाय कहलाता है। इसमें सकृद्देशना होने से यह अल्पोपाय है। आचार्य जयरथ ने विवेक में इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए एक कारिका को उद्धृत किया है, जैसे –

उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादत:।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासै: विश्वस्वरूपक:।।
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिता:।
विना भूयोऽनुसन्धानं भान्ति संविन्मया स्थिता:।।[3]

अभिनवगुप्तपाद ने *तन्त्रालोक* में इसकी महत्ता को बताते हुए कहा है कि –

अनुपायं हि यद्रूपं कोऽर्थो देशनयात्र वै।
सकृत्स्याद्देशना पश्चादनुपायत्वमुच्यते।।[4]

जयरथ ने इसको स्पष्ट करते हुए इसे अनुदरा कन्या के साथ तुलना की है। जैसे –

सकृदिति–न पुनरुपायानुभव: पौन: पुन्येनेत्यर्थ:। अत एवाह 'पश्चादनुपायत्वमुच्यते' इति, आणवादौ असकृद्भाव्यमानो हि देशनादि उपेयप्राप्तिं विदधाति इति तत्र तथात्वमुक्तम्, इह तु न तथा इत्यनुपायत्वं, पर्युदासस्य 'अनुदरा कन्या' इति वदल्पार्थत्वेऽपि भावात् अल्पोपायत्वमित्यर्थ:।[5]

2. शाम्भवोपाय

स्वात्मपरामर्श तथा स्वस्वरूपोपलब्धि हेतु यह शाम्भवोपाय श्रेयस्कर है। इसमें अभेदभावना का परामर्श होने से समस्त विकल्प अनुपयोगी हो जाते हैं। यह अभेदप्रधानात्मक होने से शिव और जीव में भेद नहीं रहता। इस अवस्था में नामरूपात्मक जगत् का परित्याग होकर केवल शिवस्वरूप आत्मोपलब्धि होती है। इसे अविकल्प अथवा निर्विकल्प योग भी कहा जाता है। श्रीतन्त्रालोक के अनुसार अकिञ्चित् चिन्तक के अन्दर गुरु के द्वारा किये गए प्रतिबोध से उत्पन्न होने वाला आवेश ही शाम्भवोपाय है। जैसे कि—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधित:।
उत्पद्यते य: आवेश: शाम्भवोऽसावुदीरित:।।[6]

पण्डित परमहंस मिश्र जी ने यहाँ पर कारिकोक्त प्रथमपंक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निर्विचार अवस्था में तीव्र बोध का प्रत्यभिज्ञान होने से जो आवेश उत्पन्न होता है, वह शाम्भव समावेश कहलाता है। यहाँ पर अकिञ्चिच्चिन्तकस्य इस पद के द्वारा विकल्पों की अनुपयोगिता की ओर संकेत किया गया है। जिससे अतिशीघ्र ही ज्ञेय की समापत्ति हो जाती है। इसकी श्रेष्ठता को दिखाते हुए अभिनवगुप्त ने स्वयं ही कहा है–

एवं परेच्छा शक्त्यंशसदुपायमिमं विदु:।
शाम्भवाख्यं समावेश सुमत्यन्तेनिवासिन:।।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र भी तन्त्रालोकोक्त लक्षण को स्वीकार किया है। जैसे—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधित:।
उत्पद्यते य: आवेश: शाम्भवोऽसावुदाहृत:।।[7]

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञेय जड़ और चेतन के भेद से दो प्रकार का है। संविद् में जड नीलादि से भी समावेश होने से समावेश केवल बोधात्मक नहीं हो सकता है। इसके समाधान में तन्त्रालोककार कहते हैं कि चिन्मात्र ज्ञेय कल्पित है और जड नीलादि पदार्थ रूप से सत्य है। यह पार्थक्यपूर्ण

विभाजन ही है। जड नीलादि के साथ जो समावेश होता है वह प्रतिच्छन्दात्मक होता है तथा चैतन्य के साथ जो समावेश होता है वह तादात्म्यरूप होता है। क्योंकि चेतन का ज्ञेयत्व कल्पित होने से वस्तुशून्य है। परन्तु जड नीलादि ज्ञेय स्थल में चित् का नीलादि के रूप में दर्पणमुखन्याय से प्रतिबिम्बनमात्र ही समावेश है, न कि चित् और नील का तादात्म्य। इनके तादात्म्य स्वीकार करने पर नीलादि की भी ज्ञानस्वरूपता हो जाएगी, जिससे केवल ज्ञान ही शेष रहेगा, न कि नीलादि। जिससे प्रतिच्छन्दकता ही समाप्त हो जाएगी। इस समय संकुचित और असंकुचित चित्त का समानान्तर रूप न रहने से चिदेकात्म्य की प्राप्ति हो जाएगी। अत: बोध के साथ ऐकात्म्य ही समावेश है। इस प्रकार जब संकुचित संवित्ति अविकल्प अवस्था में भावनादि से निरपेक्ष रहती हुई शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लेती है, तब उस अवस्था में प्राप्त होने वाला समावेश ही शाम्भव कहलाता है। जैसे—

तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भव:।।

3. शाक्तोपाय

साधक उच्चाररहित वस्तुतत्त्व का चित्त में चिन्तन करते हुए जो समावेश प्राप्त करता है, उसे शाक्त समावेश अथवा शाक्तोपाय कहा जाता है। जैसे *श्रीतन्त्रालोक* में कहा गया है—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्त: सोऽत्राभिधीयते।।[8]

इसमें क्रियोपाय के बाह्य उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण तथा स्थान आदि की कल्पना न होने के कारण अभेदावस्थात्मक है। परन्तु इसमें विकल्पात्मकता विद्यमान होने से चित्त से इनका चिन्तन भी होता रहता है। अत: यह भेद और अभेद उभयस्वरूपवाला है। कहा भी गया है—

भेदाभेदौ हि शक्तिता।[9]

इस उपाय को ज्ञानोपाय भी कहा जाता है। क्योंकि साधक जब 'आत्मैवेदं सर्वं' इत्याकारक चिन्तन करता है, तो इसमें आत्मा और अनात्मारूप दो कल्पांश वर्त्तमान रहते हैं तथा आत्मा ही अनात्मरूप से प्रकाशित हो रहा है – यह प्रतीति भी रहती है। इसके पौन:पुन: अभ्यास से अभेदपरामर्श होने लगता है। जिससे पूर्व में विद्यमान सविकल्पता निर्विकल्पता में परिणत हो जाता है। यह ही ज्ञान है। जब साधक विवेक अथवा गुरु के द्वारा प्राप्त अवबोध से उच्चार, करण आदि विकल्पव्यापारों का शोधन कर लेता है तब इन सबमें स्वात्मपरामर्श होने के कारण उसके चित्त में विश्वाहन्ता का विकास हो जाता है। इस प्रकार परामर्श से वह साधक अभेदावस्था को प्राप्त कर जाता है। इसमें उससे भिन्न विश्व का परामर्श नहीं हो पाता है। इस प्रकार के सार्वात्म्य भावना के आश्रय से साधक के चित्त में शुद्ध विकल्पों का स्फुरण होने लगता है। जैसे *तन्त्रालोक* में कहा गया है—

तत्र बुद्धौ तथा प्राणे देहे चापि प्रमातरि।
अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थः प्रकाशते।।[10]

विवेक में भी कहा गया है—

बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता।
तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयी भवेत्।।[11]

4. आणवोपाय

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण तथा स्थान की प्रकल्पना आदि के द्वारा साधक जिस समावेश को प्राप्त करता है वह आणव समावेश अथवा आणवोपाय कहलाता है। *तन्त्रालोक* में कहा भी गया है –

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत्स समावेश सम्यगाणव उच्यते।।[12]

परिमित प्रमाता परिमित स्वरूपवाले बुद्धि तथा प्राणादि को उपाय के रूप में स्वीकार करता है। अतः अणु से गृहीत उपाय होने से यह आणवोपाय है। *शिवसूत्र विमर्शिनी* में आचार्यश्री स्वयं कहा है कि—

इदानीमाणवोपायं प्रतिपिपादयिषुः, अणोः तावत्स्वरूपं दर्शयति 'आत्मा चित्तम्'।[13]

इनमें से ध्यान बुद्धिरूप करण का व्यापार है। प्राण स्थूल तथा सूक्ष्मरूप से दो है। इन दोनों में स्थूल प्राण का व्यापार उच्चार एवं सूक्ष्म प्राण वर्ण है। सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता ध्यान है। तन्त्र में प्राणादि वायु का व्यापार उच्चार कहा जाता है। प्राणोच्चार के समय स्वाभाविकरूप से उच्चरित होने वाले सोऽहम् – यह सकार और हकार वर्ण कहे जाते हैं।

क्रियाशक्ति का प्रथमोन्मेष प्राण-व्यापार है। प्राणशक्ति अपने प्राणादि रूपों से जीव को आप्यायित करता रहता है। इस क्रियाशक्ति के पूर्वभाग में कालाध्वा तथा उत्तरभाग में देशाध्वा की स्थिति है। कालाध्वा में पर, सूक्ष्म एवं स्थूलरूप वर्ण, मन्त्र एवं पद की तथा देशाध्वा में काल, तत्त्व तथा भुवन की स्थिति है। समस्त षडध्वात्मक जगत् इस क्रियाशक्ति का ही उन्मेष है। समस्त षडध्वात्मक जगत् में प्राणशक्ति का ही स्पन्दन होता है। हृदय आदि स्थानों में स्पन्दमान इस प्राणशक्ति में चित्त को विलीन कर देना भी स्थान-कल्पना है। इसी प्रकार शरीर के भीतर विद्यमान नाडी, चक्रप्रभृति स्थानों में एवं लिङ्ग, चत्वर, प्रतिमा आदि में चित्त को नियोजित करना भी स्थान प्रकल्पना है। इन विकल्पात्मक स्थूल उपायों को आणव उपाय कहा गया है।

वस्तुतः भेदमयी कल्पनाओं से कल्पित तथा उच्चार, करण तथा ध्यानादि बाह्य विकल्पमय अर्थों के साधकरूप क्रियोपाय ही आणवोपाय है। यहाँ पर भेद ही अपवर्ग का प्रतिबन्धक है। कहा भी गया है—

यत्तु तत्कल्पनाक्लृप्तबहिर्भूतार्थसाधनम्।
क्रियोपायं तदाम्नातं भेदो नात्रापवर्गगः।।[14]

स्वरूप का प्रथन ही अपवर्ग है और जब तक भेदबुद्धि विद्यमान है, तब तक स्वरूपकथन सम्भव नहीं हो सकता है। जब बारम्बार विकल्पांश के निश्चय के क्रम की चर्चा के द्वारा साधक जिस विकल्पात्मक परामर्श को प्राप्त करता है वह ज्ञानोपाय है। यह ज्ञानशक्ति का स्फार है। तन्त्रालोक में कह गया है—

भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति ज्ञानोपायं तु तद्विदुः।।[15]

साधनालीन साधक की चरम तल्लीनता में समस्त विकल्पों का नाश हो जाता है। यह तैजसावस्था है। उससे ही आत्मपरामर्श की प्रथमानुभूति होने लगती है। अन्य समस्त वैकल्पिक परामर्श नष्ट हो जाते हैं। इस समय एक स्फुरत्ता मात्र सूक्ष्मावस्था आती है। उसमें स्पष्टत: साक्षात् स्फुरण ही आद्यानुभूति होती है। यह इच्छा नामक उपाय है। इसे ही शाम्भव उपाय भी कहा जाता है। इस अवस्था में शैव महाभाव का पथ प्रशस्त हो जाता है। अत: कहा भी गया है—

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्त्तितम्।।
यथा विस्फुरितदृशामनुसन्धिं विनाप्यलम्।
भाति भावः स्फुटस्तद्वत्केषामपि शिवात्मना।।[16]

उपायों के द्वारा शिव का भान नहीं होता है, क्योंकि उपाय उपेय-शिव की अनुग्रह से ही प्रकाशित होता है। अत: कहा भी गया है –

उपायैर्न शिवो भाति, भान्ति ते तत्प्रसादतः।।

'मैं वही स्वप्रकाश हूँ, मैं ही विश्वरूप में भासित हो रहा हूँ'—गुरु से इस प्रकार कथन को अवगम करते हुए कुछ दत्तावधान शिष्य निश्चित रूप से यह दृढ धारणा बना लेते हैं। किसी अनुसन्धान, ऊहापोह या तर्क के बिना ही ये संविन्मय स्थितप्रज्ञ, स्वात्मस्थित एवं स्वयंप्रकाश यही अनुपाय विज्ञान है। जिनकी चेतना स्वच्छ दर्पण के समान हो गयी है, उनके ऊपर अनुग्रह होता है। इससे उपायरहित अनुपाय विज्ञान प्राप्त होता है। यह अनुपाय अनुग्रह मार्ग पर आधृत है। गुरु का शक्तिपात शिष्य में शक्ति का सञ्चार कर देता है, जिससे एक साथ स्वप्रकाश का उन्मीलन हो जाता है। एतदर्थ बाराम्बार भावनात्मक अनुसन्धान नहीं करना पडता है। शाम्भवोपाय तीव्रशक्तिपात सापेक्ष है, परन्तु निरुपायस्वरूपक यह अनुपाय तीव्रतीव्रशक्तिसापेक्ष है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रियासम्बन्धी शाम्भव, शाक्त तथा आणव समावेशत्रय से भी उत्कृष्ट है। जयरथ ने कहा भी है –

विभुशक्त्यणुसम्बन्धात्समावेशस्त्रिधा मतः।
इच्छाज्ञानक्रियायोगादुत्तरोत्तरसम्भृतः।।[17]
ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम्।
आनन्दशक्ति विश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते।।[18]

अनुपाय में देशना निरर्थक होती है। इसके अन्तर्गत सिद्धों एवं योगिनियों के दर्शन, चरुभोजन, उपदेश, शास्त्र-स्वाध्याय, साधना एवं गुरु की सेवा अन्तर्भूत है। कहा गया है—

सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम्।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम्।
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने।।

इस अनुपाय से क्रियायोग समुद्भूत है। जैसे—

तत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति।
स हि तस्मात्समुद्भूतः प्रत्युत प्रविभाव्यते।।[19]

इस अनुपाय में विश्राम करने वाला योगी समरस हो जाता है। अपने अहमात्मक स्वात्मसत्ता के संज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। उसी का सतत स्मरण करता हुआ योगी 'स्व' में स्थित होकर सुखी बन जाता है। जैसे –

उपायो नापरः कश्चित्स्वसत्तावगमादृते।
तामेवानुस्मरन् योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत्।।

इस प्रकार अनुपाय समावेश विश्रान्त योगी को यह प्रतीत होने लगता है कि यह समस्त समक्ष समुल्लसित भाव मण्डल सम्पूर्णतया संवित्तिरूपी भैरवी भाव के प्रकाश में समाहित हो रहा है। उसे अनुभव होता है कि समस्त प्रपञ्च का स्फुरण उसी से ही हो रहा है। यह उसी में ही प्रतिबिम्बित है। उससे कुछ भी भिन्न नहीं है, अपितु आत्ममय ही है।

शाम्भवावस्था में ध्यान की आवश्यकता नहीं होती है, परन्तु शाक्तावस्था ध्यानसापेक्ष है। शाम्भवोपाय में साधक ज्ञान के द्वारा निर्विकल्प में विश्राम प्राप्त करता है। परन्तु शाक्तोपाय में चित्त, बुद्धि आदि विकल्पांश स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। शाक्तावस्था में कर्तृत्वाभिमान के साथ-साथ जगत् की मायात्मक एवं विकल्पात्मक दृष्टि भी रहती है। मायामय विकल्पांश के कारण भेदविमर्शन होता है। जब शनैः शनै साधक समावेश की ओर अग्रसर हो जाता है, तब भेदों से अभेद ओर बढने से भेद और अभेद की स्थिति बनी रहती है। परन्तु शाम्भवोपाय अभेदावस्थारूप है। इसमें साधक ज्ञान के द्वारा निर्विकल्पावस्था में विश्रान्ति ग्रहण करता है। परन्तु ज्ञानोपाय एवं क्रियोपाय विकल्पात्मक है।

वस्तुतः उपायों के अभ्यास से उद्भावनीय शिवता का जो आवेश है वह समावेश है। अतः शाम्भवोपायलभ्य शाम्भवसमावेश, शाक्तोपायलभ्य शाक्त समावेश एवं आणवोपायलभ्य आणवसमावेश है। उच्चार, करण तथा ध्यानादि आणवोपाय है। *ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी* में समावेश को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

मुख्यत्वं कर्त्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत् समावेशलक्षणम्।।[20]

शुद्धचिदात्मक बोध का अहन्ता के रूप से विमर्शन होना और अपनी आत्मा में अनवच्छिन्न शुद्धकर्त्तृत्वरूप सामर्थ्य का विमर्शन होना तथा उससे देहादि प्रमातृभाव का तिरोभूत होना समावेश कहलाता है। अपने वास्तविक स्वरूप में सम्यक् आवेश ही समावेश है। समावेश प्राप्त साधक ज्ञान कहलाता है। कहा गया है—

अज्ञानरूपमलप्रतिद्वन्द्वितया समावेशलक्षणं सत्यस्वरूपे सम्यगासमन्तात् प्रवेशलक्षणं ज्ञानं, यल्लाभेन ज्ञानी यदभ्यासे न च देहप्राणादावनन्तसंविद् धर्मात्मकविभवसमासादनात् योगी भवति।[21]

स्वात्मशिवभावदर्शनपूर्वक स्वकीय मायीय प्रमातृभाव के निमज्जन से शिवस्वरूप में अवस्थान समावेश कहलाता है। जैसे—

मायाप्रमात्राभिमानातिरेकन्यग्भावितसंविदात्मकस्वस्वरूपताया उन्मग्नतात्मकः समावेशः।[22]

कश्मीरशैवदर्शनबृहत्कोष में कहा गया है—

अविशङ्कं परे शिवभावे एव साक्षात् स्वात्मनः स्थितेर्विमर्शनम्।[23]

इस प्रकार समावेश का रूप स्पष्ट होता है।

सन्दर्भ

1. *योगिनीहृदय*, 1/13
2. *श्रीनेत्रतन्त्र*
3. *श्रीतन्त्रालोक*, 2/2
4. *श्रीतन्त्रालोक*, 2/2
5. *श्रीतन्त्रालोक*, 2/2
6. *श्रीतन्त्रालोक*, 1/168
7. *मालिनी०*, 2/23
8. *श्रीतन्त्रालोक*, 1/169
9. *तन्त्रालोक*, 1/120 b
10. *श्रीतन्त्रालोक*, 5/7
11. उद्धृत, *तन्त्रालोक* वि०, 5/10
12. *श्रीतन्त्रालोक*, 1/170
13. *शि०सू०वि०*, 3/1
14. *श्रीतन्त्रालोक*, 1/149
15. *तन्त्रालोक*, 1/148
16. *श्रीतन्त्रालोक*, 1/146, 147
17. *तन्त्रालोक* वि०, 1/241
18. *श्रीतन्त्रालोक*, 1/242
19. *तन्त्रालोक*, 2/8
20. *ई०प्र०*, 3/2/12
21. *ई०प्र०वि०वि०*, 3/327
22. *ई०प्र०वि०वि०*, 1/7
23. *का०शै०बृ०को०*, पृ० 747

सह-आचार्य
विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं
भारत-भारती अनुशीलन संस्थान,
(पंजाब विश्वविद्यालय) साधु आश्रम,
ऊना रोड, होशियारपुर, पंजाब।

निगमागमीय दर्शन में प्राणतत्त्व

योगेशप्रसाद पाण्डेय

भारतीय अध्यात्म साधना में आत्मतत्त्व के अनन्तर प्राणतत्त्व विशेष महत्त्व रखता है तथा वैदिककाल से लेकर वर्तमानकाल तक विविध प्रकार से व्याख्यायित किया गया है। प्राणतत्त्व पर आचार्यों की लेखनी अधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप से चली है। निगमागमीय दर्शन में प्राणतत्त्व प्रचुर सामग्री प्राप्त है। निगम (वेद) में 'प्राणो वै ब्रह्म'[1], 'प्राणो वै रुद्रा:'[2] 'प्राणो प्राणेन यज्ञ: समन्तत:'[3] आदि।

आर्ष-चिन्तन में औपनिषदीय स्तर पर 'प्राण' का अर्थ 'जीवन' या जीवन-शक्ति है। समस्त-जीवन व्यापारों के ऊपर प्राण की प्रभुसत्ता घोषित की गयी है। इन्द्रियाँ प्राण की स्तुति करती हैं, "वाक् ने कहा, 'मैं जो वसिष्ठ हूँ, वह वसिष्ठत्व तुम्हारा ही दान है।' चक्षु ने कहा, 'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, वह प्रतिष्ठा तुम्हारा ही दान है।' श्रोत्र ने कहा, 'मैं जो सम्पद हूँ, वह सम्पद् तुम्हारा ही दिया हूँ', मन ने कहा, 'मैं जो आयतन हूँ, वह आयतन तुम ही हो।'" वाक्-शक्ति, चक्षु-शक्ति, श्रोत्र-शक्ति, मन-शक्ति के मूल में प्राण ही है। यह प्राण अन्तर्यामी ब्रह्म की कला है। इस प्राण का अन्न प्राणियों द्वारा ग्रहण किया गया भोजन है। इस प्राण का वस्त्र प्राणियों द्वारा ग्रहण किया गया जल है। सत्यकाम जाबाल का कथन है कि जो इस प्राण-विद्या को सूखे काठ को भी सुनावें, तो उससे नये पत्ते निकल आवें।[4]

योगशास्त्र में प्राण का अर्थ प्राण-वायु विकसित हुआ तथा पञ्चप्राणों की कल्पना हुई। *सांख्यकारिका* में—"सामान्यकरणवृत्ति-प्राणाद्यावयवा: पञ्च" निर्दिष्ट है।[5]

प्राण शब्द भारत की सभी भाषाओं में प्राप्त होता है—पर इसका सही पर्याय फारसी-अरबी, अंग्रेजी व पश्चिम की अन्य भाषाओं में उपलब्ध नहीं है। इसका अंग्रेजीद पर्याय 'श्वास' किया है (ब्रेथ) जो सन्देहास्पद है।

प्राण की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अन' धातु से है। 'अन' का अर्थ जीवन शक्ति व चेतना है। *'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ'* में 'प्राणिति अनेन—(प्र+अन+घ च) कहकर किया है अर्थात् वह हवा जिससे कोई जीवित कहलाता है।'

अमरकोष में 'शरीरस्थ पञ्च प्राण:' कहकर उसके पाँच भेद (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) च वायव: कहा है।

प्राण को एक परिभाषा में 'जीवस्य लक्षणम्' अर्थात् जीव का जीवित लक्षण कहा गया है। जीव जिसके द्वारा जीवित रहकर व्यवहार करते हैं वह प्राण है 'जीवन्ति प्राणति जीवित व्यवहार योग्या भवन्ति जीवा यैस्ते प्राणा:।'

ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में प्राण का उल्लेख है।[6]

इस वेद में सूर्य को प्राण विद्या विशेषज्ञ कहा है और नेत्र शक्ति, प्राण ऊर्जा के लिए प्रार्थना है।[7] इसी प्रकार आगे की ऋचाओं में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, वायुलोक आदि से भी प्राणशक्ति प्रदान करने की प्रार्थना है। (दसवें मण्डल) में[8] कहा है कि सूर्य देव का प्रकाश आकाश में संचरित होता है। ये रश्मियाँ प्राण से अपान प्रक्रिया सम्पन्न करती है—

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।

व्यख्यमहिषोदिवम् पिण्डस्य व ब्रह्माण्ड में प्राणशक्ति ही है—वही विभु सत्ता है।

अथर्ववेद का 'प्राणसूक्त' प्रसिद्ध है।[9]

ॐ प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे वयो भूत:। सर्वस्येश्वरो अस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।

प्राण को नमस्कार है, उसी के वश में यह जगत् है—वह सदा वर्तमान और सबका ईश्वर है। उसी के भीतर सब अटल ठहरा है।

यजुर्वेद में भी प्राण सम्बन्धी मन्त्र है। इसमें[10] अग्निदेव को प्राण में स्थित होना कहा है। ये प्राण 'भैवायन' है और इष्ट को जो प्रतिष्ठित करते हैं। इसी से आरोग्यप्रद प्राण को ग्रहण किया जाता है।

इन सबकी सविस्तार विवेचना में न जाकर यहाँ *शतपथ ब्राह्मण* का उद्धरण देना चाहेंगे—

सोऽयमात्मा मनोमय: प्राणमय: वाङ्मय:।

ज्ञान का मूल तत्त्व मन, क्रिया व प्राण तथा अर्थों का वाक् है।

श्रुति में 'प्राण-तत्त्व' की प्रभूत विवेचना मिलती है।

कठोपनिषद् में यमराज कहते हैं—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति नि:सृतम्।[11]

पिण्ड में प्राण ही ब्रह्म का मूर्त, मर्त्य, स्थिति, रस और प्रत्यक्ष रूप है। प्राण की उत्पत्ति के विषय में यह श्रुति कहती है 'यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येव मेवास्मादात्मन: सर्वे प्राणा: प्राणा वै सत्यं तिषामेव सत्यम्।'[12]

तैत्तिरीय श्रुति[13] में ऋषि कहते हैं कि प्राणतत्त्व विश्व भर में अत्यन्त सूक्ष्म भाव से व्याप्त हो रहा है। आधुनिक विज्ञान के 'ईथर' से भी सूक्ष्म 'सब पार्टिकल से भी सूक्ष्म। इस प्राण तत्त्व का स्रोत सूर्य है—'आदित्यो वै प्राण:।'[14]

बृहदारण्यक में[15] विभिन्न प्रकार से प्राण की विवेचना की गयी है। इसमें पंचकोषों का भी वर्णन है।

हृदयप्राण में, उसे अपान से अपान को व्यान में व्यान को उदान में उदान को समान में प्रतिष्ठित कहा है।

पाँच प्राणों का विवेचन इस प्रकार है—अपान 'अपनयति प्रकर्षेण मलं निस्सारयति अध: कर्षति च शक्तिम्' (मल, मूत्र, कफ, रज आदि का विसर्जन करता है) समान वायु 'रसं समं नयति स सम्यक् प्रकारेण नयति इति समान:।' जो रसों को यथास्थान वितरित करता है—उत्पादन और स्तर बनाए रखता है—वह समान है। प्राण के लिए कहा है 'प्रकर्षेण आनयति प्रकर्षेण वा बलं ददाति आकर्षयति च शक्तिं स प्राण:' श्वास, आहार आदि को खींचकर बल संचार करता है वह प्राण है—श्वासोच्चारण में यही मुख्य है। उदान 'आनयति शरीरं उद्यानयति स उदान:' शरीर को उठाये रखना, कड़क रखना, गिरने न देना, ऊर्ध्व गमन का परोक्ष व प्रत्यक्ष कारण हैं। व्यान 'व्याप्नोति शरीरं च=य स व्यान:' यह समस्त शरीर में व्याप्त रहता है, रक्त संचार, ज्ञान तन्तु से नियंत्रण करता है। इन पाँच प्राणों के चक्र इस प्रकार हैं। अपान का मूलाधार, समान का मणिपूर, प्राण का अनाहत, उदान का विशुद्धाख्य और व्यान का स्वाधिष्ठान।

इस प्रकार पाँच उपप्राण हैं—देवव्रत, कल, कूर्म, नाग और धनंजय। ये पाँच उपप्राण मुख्य प्राणों के साथ ही सक्रिय रहते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार मानव शरीर में दस अरब न्यूरान हैं और हर एक का 25 हजार से सम्पर्क बना रहता है। हर समय ये न्यूरान नष्ट होते हैं और पुन: निर्मित भी। प्राण-अपान आदि की शक्ति का आधार सूर्य है। पिण्डस्थ में जो प्राण शक्ति है वही ब्रह्माण्ड में विभु रूप से विद्यमान है। प्राणवायु और प्राण एक नहीं है। प्राण का तात्पर्य 'चेतन शक्ति' से है। पातञ्जल योगदर्शन[16] का सूत्र है—'उदानजयाज्ज्लपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च' 'समान जयाज्ज्वलनम्'[17] उदान प्राण में से स्वेच्छापूर्वक उत्क्रान्ति भी सिद्ध होती है।

सुश्रुत ने प्राण को 'भगवान् स्वयंभू' ही गिना है। वे ही प्राणी मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारण हैं। वे अप्रत्यक्ष हैं पर उनकी क्रिया व्यक्त वायु प्राण के कुपित नहीं होने से देह भी समभाव में रहता है। सुश्रुत ने प्राणवायु, उदान, समान, व्यान, अपान आदि का भी वर्णन किया है। व्यानवायु के कुपित होने से सारी व्याधियाँ होती हैं।[18] चरक के अनुसार वायु ही सम्पूर्ण विश्व है। वायु से ही प्रभु का नाम निकलता है।

शिवसूत्र में[19] कहा है नैसर्गिक: प्राण सम्बन्ध प्राण ही मूल सिद्धान्त है।

'हकारस्तु स्मृत: प्राण: स्वप्रवृत्तो हलाकृति:' पुन: प्राक् संवित् प्राणे परिणता स्वच्छ तन्त्र के अनुसार—

प्राण: प्राणमय: प्राणो विसर्ग: पूरणं प्रति।
नित्यमापूरयत्येष प्राणिनामुरसि स्थित:।।

जीव की सारी उक्ति प्राण में अवस्थित है—प्राण, अपान, श्वास-प्रश्वास से जीवन चलता है। यह जीवनी शक्ति है। इसी से इसे प्राण कहते हैं। प्राण में ही चेतना का प्रथम स्फुरण होता है।

विवेक चूड़ामणि [20] में शंकराचार्य ने प्राण का धर्म इस प्रकार बताया है—उच्छ्वासनि: श्वास विजृम्भणक्षुत-प्रस्पन्दनाद्यत्क्रमणादिका: क्रिया: प्राणादि कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञा: प्राणस्य धर्म: विशनापिपासे। श्वास, प्रश्वास, जमुहाई, क्षुधा, काँपना आदि प्राणों का धर्म है। क्षुधा पिपासा भी प्राण का धर्म है।

आद्य शंकराचार्य ने[21] भाष्य में कहा है—'न वायु: प्राणो नापि करणव्यापार:' अर्थात् प्राण वायु नहीं है, न वह इन्द्रियों का व्यापार है।

विवेक चूड़ामणि[22] में शंकराचार्य ने पंच प्राण के विषय में कहा है—

प्राणापानव्यानोदानसमाना भवत्यसौ प्राण:
स्वयमेव वृत्तिभेदाद्विकृतिभेदात् सुवर्णसलिलादिवत्।।

प्राण ही वृत्ति भेद से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पाँच नामों वाला होता है—स्वर्ण व जल के समान।

वेदान्तसार में भी यही बताता है परन्तु पाँच ही मुख्य है और अन्य पाँच नाग, सूर्य, कृकल, देवदत्त और धनंजय उनके अधीन। इनके कार्य इस प्रकार हैं—

प्राण—श्वास, उच्छ्वास, इन्द्रियों का कार्य।

अपान—नाभि से पादतल तक—मल-मूत्र, कमर वीर्यादि।

समान—नाभि से हृदय तक—पाचन कार्य, सभी देह में उसे विस्तरण करना।

व्यान—स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियों की गति व अंगों में रुधिर का संचार।

उदान—व्यष्टिप्राण से समष्टि प्राण का सम्बन्ध। यही मृत्यु के समय स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को बाहर निकालता है और कर्मानुसार संस्कारों का निर्माण करता है।

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा:।।[23]

कोई योगी अपान वायु से प्राणवायु होमते हैं, कोई प्राण में अपान का व कोई प्राण व अपान को रोक कर। योगी ओमानन्द *योगप्रदीप*[24] में कहते हैं कि शरीर में पन्द्रह नाड़ियाँ हैं—सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गांधारी, हस्त, जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, कुहू, सरस्वती, वारुणी, अलम्बुषा, विन्दूवोदरी, शंखिनी, चित्रायुधा। '*पवन स्वरोदय*' व '*ज्ञान संकलिनी-तंत्र*' में इनका वर्णन किया गया है, जिनसे योगी प्राणायाम द्वारा विभिन्न शक्तियाँ उपलब्ध करता है।[25]

काश्मीर शैवदर्शन में प्राण शब्द का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

प्राण: प्रकर्षेण प्राधान्येन प्रगुणतया अन्यवायुवैलक्षण्येन अननात्प्राण इति।[26]

प्राणकुण्डलिनी की भी चर्चा प्राप्त है।

असौ प्राणानात्मिका शक्तिर्यस्या: बलेन जडमपीदं देहकरणादि सर्वं चेतनवदाचरति। सैषा मूलाधारचक्रे प्रसुप्तभुजगाकारतया साक्षात्क्रियते योगिभि:। योगाभ्यासे च सौषुम्नमार्गेण प्रसरन्ती षट्-चक्राणि भित्त्वा सहस्रारमुपयाति। षट्सु च चक्रेष्वारोहणावरोहणादि कुर्वन्ती साक्षादनुभूयते सानन्दसन्दोहं योगिभि:।[27]

आचार्य अभिनवगुप्त ने प्राण का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

प्राण इति प्राणनरूपा जीवनस्वभावा येयं चिद्रूपस्य स्थिति:, सा तावत् सामान्यपरिस्पन्दरूपा, देहप्राणादेरचेतनस्य चेतनायमानतासम्पादनात्मिका, अहमिति स्वातन्त्र्यारोपसारा सती विकल्परूपपरामर्शमयी, सैव प्राणादि विशेषात्मना पञ्चरूपतां भजते।[28]

स्वच्छन्दतन्त्र में प्राण का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

नित्यामापूरयन्नेव प्राणिनामुरसि स्थिति:।
प्राणनं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राण: प्रकीर्तित:।।[29]

महाभारत के अनुसार प्राण का स्वरूप इस प्रकार है—

सूक्ष्म-शरीर-समष्ट्युपहित-चैतन्य
प्राग्गमनवान् नासाग्र-स्थान-वर्ती वायु:।।
प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक्।
प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते।।[30]

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार प्राण का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यान्तरचारिणौ।[31]

प्राणयोग का विवेचन करते हुए कहा गया है, जैसे प्राण के बिना शरीर अक्षम और अशक्त होता है, उसी प्रकार मन्त्र बिना प्राण के कार्य नहीं कर सकते, चाहे उनका कितना ही पुरश्चरण किया जाए।

विना प्राणं तथा मन्त्राः पुरश्चर्याशतैरपि।
स प्राणो जायते देवी सर्वत्रायं विधि स्मृतः।।

सरस्वती तन्त्र[32] में महेश्वर कहते हैं—'विना प्राणं यथा देहः सर्व कर्मसु न क्षमः।' बिना प्राण के मन्त्र सौ पुरश्चरण करने पर भी कार्य नहीं कर सकते।

गोपीनाथ कविराज ने 'नाद तत्त्व' के अन्तर्गत कहा है कि प्राण ही 'हंस' है—'हंकार' से त्याग और 'सकार' से ग्रहण प्राण का होता है। यही नादात्मक हंस का नित्य उच्चारण है। मन व प्राण के ब्रह्म नाड़ी में प्रवेश करने पर विभिन्नताओं का अनुभव होता है। ब्रह्म नाड़ी ही सुषुम्ना है।

अत्यन्त संक्षेप में यही प्राणतत्त्व है। भारतीय आप्त परम्परा में प्राण को ब्रह्म, जीवात्मा-विश्व आदि से व्याख्यायित किया गया है। पश्चिम के प्राज्ञ, विचारक इसकी व्याख्या करते हुए इसके अगाध गांभीर्य को पूर्णरूपेण हृदयंगम नहीं कर सके। कोलब्रुक ने 'मिसलेनियस एसेज' में प्राण का अर्थ इन्द्रियों से लिया है एवं 'वैदिक इण्डेक्स' में मैक्डोनेल ने भी यही। आधुनिक विज्ञान जिस सीमा पर पहुँचकर अशक्त हो जाता है उसका निदर्शन भारतीय मनीषा ने प्राण तत्त्व में किया है। इस 'प्राण तत्त्व' का प्रमाणभूत निष्कर्ष *अथर्ववेद* के मन्त्र में है—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजाः पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय।।[33]

हे ब्रह्मणस्पते! ज्ञान के स्वामी हमारी उन्नति कर, शुभ कर्मों के द्वारा विद्वानों में जागृति उत्पन्न करो तथा आयु, जीवन, संतति, पशु सम्पदा, कीर्ति, सत्कर्मों को करने वालों का बल बढ़ाओ।

सन्दर्भ

1. *शतपथब्राह्मण*, 10/2/2/3
2. तत्रैव, 1/4/6/10/2
3. *मैत्रायणिसंहिता*, 4/6/2
4. *छान्दोग्योपनिषद्*, पञ्चम अध्याय।
5. *सांख्यकारिका*, 29
6. *ऋग्वेद*, 1.66, 1.10, 59,6-13
7. *ऋग्वेद*, 10-59-5
8. *ऋग्वेद*, 10-189.2

9. *अथर्ववेद*, 11.6.1
10. *अथर्ववेद*, 13.14
11. *कठोपनिषद्*, 6.2
12. *श्रुति*, 2.1.2-20
13. *तैत्तिरीय श्रुति* (ब्रह्मानन्द वल्ली 5)
14. *प्रश्नोपनिषद्*
15. *बृहदारण्यक*, 5.1
16. *पातञ्जल योगदर्शन*, 3.39
17. समानजयाज्ज्वलनम्, *योगसूत्र*, 40
18. *सुश्रुत निदान स्थान*, अध्याय 1
19. *शिवसूत्र*, 43
20. *विवेकचूड़ामणि*, 140
21. *सूत्र*, 2.4.9
22. *विवेकचूड़ामणि*, 97
23. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 4.29
24. *योगप्रदीप*, पृ. 214-215
25. द्रष्टव्य, *गीता*, 4.27-29
26. *काश्मीर शैवदर्शन बृहत्कोष* द्वितीय खण्ड, पृ. 430
27. *काश्मीर शैवदर्शन बृहत्कोष* द्वितीय खण्ड, पृ. 431
28. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी*, खण्ड 2, पृ. 244
29. *स्वच्छन्दतन्त्र*, 6,25-26
30. *महाभारत*, 12.321.65
31. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 5.26
32. *सरस्वती तन्त्र*, 6 पटल
33. *अथर्ववेद*, 19.63

अनुसन्धाता, वैदिकदर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

मार्कण्डेय गीता में कर्मविषयक चिन्तन

प्रो. धर्मचन्द जैन

कर्मयोग भगवद्गीता का महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय है, किन्तु *महाभारत* के वनपर्व में मार्कण्डेयसमास्यापर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय ऋषि के द्वारा भी कर्म के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला गया है। उसी की संक्षिप्तचर्चा प्रस्तुत आलेख में की गई है।

मार्कण्डेय ऋषि के वचनों को *'मार्कण्डेय गीता'* के नाम से जाना जाता है। महाभारत के वनपर्व में अध्याय 182 से अध्याय 232 को मार्कण्डेयसमास्यापर्व के अन्तर्गत रखा गया है। इनमें मार्कण्डेय अपने पुरातन अनुभवों एवं कथानकों को प्रस्तुत करते हैं, जिनमें प्रायः सदाचार एवं दार्शनिक तत्त्व भी समाहित रहते हैं। इन अध्यायों में से प्रमुखतः अध्याय 183 से 191 को मार्कण्डेयगीता के अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि इनमें मार्कण्डेय के वचन प्रमुखता से अभिव्यक्त हुए हैं।[1] मार्कण्डेय ऋषि महान् तपस्वी हैं, स्वाध्यायशील हैं, सहस्रों वर्षों की आयु होने पर भी पच्चीस वर्षीय युवा की भांति सक्रिय हैं।[2] काम्यकवन में श्रीकृष्ण युधिष्ठिर आदि पाण्डवों, अनेक ब्राह्मणों, द्रौपदी एवं सत्यभामा के साथ मार्कण्डेय ऋषि से आदरपूर्वक मिलते हैं एवं उनसे राजाओं, नारियों एवं महर्षियों की पुरातन पुण्यकथाओं एवं सनातन सदाचार के सम्बन्ध में अपने अनुभव सुनाने हेतु निवेदन करते हैं।[3]

युधिष्ठिर के कर्मविषयक मौलिक प्रश्न

युधिष्ठिर धर्मराज हैं एवं नीतिमान् हैं, फिर भी द्वादश वर्षों का वनवास उन्हें स्वीकार करना पड़ा, अतः युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय ऋषि के समक्ष कुछ प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा—

भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वाऽऽत्मानं सुखाच्च्युतम्।
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः॥

कर्मणः पुरुषः कर्ता, शुभस्याप्यशुभस्य वा।
स फलं तदुपाश्नाति, कथं कर्ता स्विदीश्वरः॥

कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथवा पुनः॥

देही च देहं संत्यज्य, मृग्यमाणः शुभाशुभैः।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम॥

ऐहलौकिकमेवेह उताहो पारलौकिकम्।
क्व च कर्माणि तिष्ठन्ति जन्तोः प्रेतस्य भार्गव॥[4]

युधिष्ठिर कहते हैं कि मैं अपने को सुख से रहित तथा दुराचारी धार्तराष्ट्रों को समृद्ध होते हुए देख रहा हूँ। युधिष्ठिर को वनवास एवं दुर्योधन आदि को राज्य प्राप्ति होने से निम्नांकित प्रश्न उपस्थित होता है-

"धर्म मार्ग से जीने वाले सज्जन पुरुषों को कष्ट क्यों आते हैं तथा दुराचारी व्यक्ति समृद्धिशाली क्यों दिखाई पड़ते हैं?"

युधिष्ठिर के द्वारा अन्य मौलिक प्रश्न इस प्रकार उठाए गए—

1. शुभ एवं अशुभ कर्म का कर्ता पुरुष है तथा वह ही उन कर्मों का फल प्राप्त करता है तो ईश्वर कर्म का कर्ता है या नहीं?
2. कृत कर्म से इस लोक में ही सुख-दुःख प्राप्त होते हैं या परलोक में भी इन कर्मों का फल प्राप्त होता है?
3. जीव शरीर को छोड़कर जब परलोक में जाता है तो ये शुभाशुभ कर्म उसे ढूँढते हुए उससे कैसे युक्त हो जाते हैं? तथा इस लोक में भी वे कृतकर्म किस प्रकार जीव से संयुक्त होते हैं?
4. कर्मों का फल इस लोक में ही प्राप्त होता है या परलोक में भी?
5. मृत्यु को प्राप्त जीव के कर्म कहाँ रहते हैं?

मार्कण्डेय द्वारा समाधान

इन प्रश्नों को श्रवण कर भृगुवंशी मार्कण्डेय कहते हैं- हे युधिष्ठिर! तुम्हारे ये प्रश्न उचित हैं। तुम्हें जानने योग्य सब बातों का ज्ञान है, किन्तु लोक मर्यादा के लिए तुम ये प्रश्न कर रहे हो,[5] ताकि दूसरों को भी कर्मशास्त्र का बोध हो सके।

इस लोक एवं परलोक में जीव सुख-दुःख की प्राप्ति किस प्रकार करता है, इस पर प्रकाश डालते हुए तथा श्रीकृष्ण द्वारा कथित जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए ऋषि मार्कण्डेय पुरातन वृत्तान्त से अपने वक्तव्य का शुभारम्भ करते हैं। उनके अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में सभी प्राणी सुखी थे। वे कहते हैं कि प्रजापति ने जीवों के निर्मल एवं विशुद्ध शरीरों की रचना की। उस समय मनुष्य उत्तमव्रती, सत्यवादी, ब्रह्मस्वरूप, पुण्यशाली एवं चिरजीवी थे तथा उनका कोई संकल्प व्यर्थ नहीं होता था। वे अपनी इच्छा से देवों के पास आकाश में जाते तथा पुनः लौट आते थे एवं अपनी इच्छा से ही मृत्यु को प्राप्त होते थे। वे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते थे,

बाधाएँ अल्प थीं, कोई भय नहीं था, उपद्रव नहीं थे तथा सभी सिद्धकाम थे। वे देवों एवं ऋषियों, महात्माओं का प्रत्यक्ष दर्शन करते थे। सभी धर्म उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञात थे। वे जितेन्द्रिय एवं ईर्ष्यारहित थे। हजारों वर्षों तक जीवित रहते थे तथा उनके हजारों पुत्र होते थे। उसके पश्चात् कालान्तर में भूमि पर रहने वाले मनुष्य काम-क्रोध के वशीभूत हो गए, माया एवं दम्भ में जीने लगे, लोभ और मोह से आक्रान्त हो गए। तब मनुष्य न चाहते हुए भी मृत्यु को प्राप्त होने लगे।[6] उसके पश्चात् अशुभ कर्मों का भी फल उन्हें प्राप्त होने लगा। अशुभ कर्मों के कारण जीव नरक, तिर्यक् गति में जन्म ग्रहण करने से लेकर शारीरिक रोग आदि से पीड़ित होने लगे। मानसिक रूप से भी वे असन्तुष्ट एवं दुःखी रहने लगे।[7]

मार्कण्डेय ऋषि के उपर्युक्त कथन से निम्नांकित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

1. जब तक काम, क्रोध, माया, लोभ आदि दोष नहीं होते तब तक जीव को सुख ही प्राप्त होता है, किन्तु जब वह काम-क्रोधादि से अभिभूत हो जाता है तो उसे दुःख प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है कि काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोष दुःख के मूल कारण हैं। इनके अभाव में जीव सुख प्राप्त करता है।
2. सुख-दुःख की प्राप्ति जीव के कर्मों के अनुसार होती है। शुभ कर्म का फल सुखरूप तथा अशुभ कर्म का फल दुःखरूप होता है।
3. ईश्वर किसी को सुख-दुःख प्रदान नहीं करता है। न ही ईश्वर किसी का भाग्य लिखता है कि अमुक व्यक्ति को सुख प्राप्त होगा एवं अमुक व्यक्ति को दुःख की प्राप्ति होगी। ईश्वर को कर्मफल प्रदान करने में नियन्ता भी नहीं बताया गया है।
4. काल की कारणता भी यहाँ दिखाई पड़ती है, क्योंकि जीव कालान्तर में काम-क्रोधादि दोषों से स्वतः ही युक्त हो जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा उपस्थापित अन्य प्रश्नों के उत्तर में ऋषि मार्कण्डेय कहते हैं—

1. शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल

शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल कर्त्ता को स्वतः प्राप्त होता है। अशुभ कर्मों के कारण पापी जीव तिर्यक् एवं नरक योनि में गमन करते हैं तथा विभिन्न योनियों में जन्म लेकर बार-बार संतप्त होते हैं।[8] अशुभ कर्मों के कारण उनके संकल्प पूर्ण नहीं होते हैं। उनका ज्ञान भी व्यर्थ हो जाता है, चित्त अस्थिर रहता है तथा दूसरों पर शङ्का करते हुए वे सबको कष्ट देते हैं। शरीर में कोढ़ आदि चिह्न या रोग आदि उत्पन्न होते हैं। रौद्र कर्म के फलस्वरूप उनकी आयु अल्प हो जाती है।[9] इसी प्रकार शुभ कर्मों का फल सुखरूप में प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष शुभ कर्म करते हैं। वे शास्त्रों के अभ्यासी, तपस्वी, व्रती, सत्यनिष्ठ एवं गुरुसेवा में निरत रहते हैं। वे सुशील, शुक्ल स्वभावी, क्षमाशील, दान्त एवं तेजस्वी होते हैं। शुभ योनि में जन्म लेकर प्रायः वे शुभलक्षणों

से युक्त होते हैं। जितेन्द्रिय होने से संयमी होते हैं तथा शुक्ल स्वभावी होने से मन्दरोगी या नीरोग होते हैं। बाधा एवं परित्रास के अल्प होने के कारण वे उपद्रवरहित होते हैं।[10] ज्ञानी पुरुष ज्ञानचक्षु से अपने को एवं परमात्मा को जानते हैं। वे लौकिक एवं शास्त्रीय ज्ञान को प्रत्यक्ष करने वाले महात्मा ऋषि इस कर्मभूमि को प्राप्त करके पुनः देवलोक में जाते हैं।[11]

2. स्वकृत कर्म द्वारा छाया की भांति कर्ता का अनुगमन

मार्कण्डेय कहते हैं कि स्वकृत कर्म छाया की भांति व्यक्ति का अनुगमन करता है। वह शुभ होने पर सुख एवं अशुभ होने से दुःख प्रदान करता है—

तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं सदा।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाऽथ जायते॥[12]

3. कर्मफल में कृतान्तविधि की भूमिका

स्वकृत कर्मों का फल इस लोक में भी मिलता है एवं परलोक में भी प्राप्त होता है। किए गए कर्म का फल कृतान्त विधि (यमराज के विधान) के अनुसार अवश्य प्राप्त होता है।

कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः ॥[13]

4. शुभाशुभ कर्मों का संचय

मनुष्य आदिशरीर (कारण शरीर) से शुभ या अशुभ कर्मों का संचय करता है तथा आयु का अन्त आने पर स्थूल शरीर को छोड़कर तत्काल अन्य योनि में कारण या सूक्ष्म शरीर के साथ जन्म ग्रहण कर लेता है। इसमें कोई अन्तराल नहीं होता है।[14] कारण शरीर में उसके कर्म संस्कार विद्यमान रहते हैं, जिनका फल जीव यथासमय परलोक में भी प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन में भी कुछ इसी तरह का कथन हुआ है। वहाँ कार्मण शरीर में कर्मों का संचय स्वीकार किया गया है, तथा मृत्यु होने पर आत्मा के साथ कार्मण शरीर अन्य योनि में भी जाकर फल प्रदान करता है। इसके साथ तैजस शरीर भी गमन करता है। ये दोनों शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। स्थूल शरीर को जैन दर्शन में औदारिक शरीर कहा गया है। देवों एवं नारकों का स्थूल शरीर वैक्रिय माना गया है।[15]

5. मृत्यु के साथ ही नया जन्म

भारतीय परम्परा में कुछ लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि आत्मा एक शरीर के छोड़ने के पश्चात् कई बार भटकती रहती है एवं तत्काल नया जन्म ग्रहण नहीं कर पाती है। *मार्कण्डेय गीता* में इस भ्रान्त धारणा का

निराकरण करते हुए कहा गया है कि आत्मा के द्वारा एक शरीर छोड़ते ही दूसरी योनि में जन्म ग्रहण कर लिया जाता है। दोनों कार्य युगपद् होते हैं। इसमें कोई अन्तराल नहीं होता।[16]

6. दैवत्व आकस्मिकता एवं स्वकर्म की कारणता

मार्कण्डेय ऋषि ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट करते हुए कहा है—

किञ्चिद् दैवाद्धठात् किञ्चित् किञ्चिदेव स्वकर्मभिः।
प्राप्नुवन्ति नरा राजन्! मा तेऽस्त्वन्या विचारणा।[17]

मनुष्य को जो फल प्राप्त होता है उसमें कुछ दैव से, कुछ आकस्मिक रूप से तथा कुछ अपने कर्मों से प्राप्त होता है। दैव का यहाँ क्या तात्पर्य है, इसे मार्कण्डेय ऋषि ने स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु दैव के दो अर्थ हो सकते हैं—एक है भाग्य। भाग्य का निर्माण भी स्वकृत कर्मों से होता है। यह भी माना जाता है कि विधाता ने जो लिखा है वह दैव है, किन्तु यह अर्थ यहाँ मान्य नहीं है। इन दोनों के अतिरिक्त नियति को भी दैव कहा गया है। कुछ हठात् अर्थात् आकस्मिक भूकम्प, बाढ़, दुर्घटना आदि होने के कारण तदनुरूप फल प्राप्त होता है तथा कुछ फल अपने कृत कर्मों के अनुसार प्राप्त होते हैं। इस स्वकृत कर्म में वर्तमान का उद्योग या पुरुषार्थ भी सम्मिलित हो जाता है। इन सबमें प्रधानता स्वकृत कर्म की ही है।

7. इहलोक एवं परलोक में सुख-दुःख

कर्मफल को लेकर मार्कण्डेय कहते हैं कि कुछ प्राणी इसी लोक में सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु परलोक में दुःखी होते हैं। कुछ परलोक में सुख प्राप्त करते हैं, इस लोक में नहीं। कुछ इहलोक एवं परलोक में सुख प्राप्त करते हैं तथा कुछ प्राणियों के कर्म इस प्रकार के भी हैं कि इस लोक एवं परलोक दोनों में उन्हें सुख की प्राप्ति नहीं होती है।[18] इन चारों स्थितियों को उदाहरण से समझाते हैं, यथा-

(i) जिनके पास विपुल धन है, जो अपने शरीर को सजाकर विषयों में रमण करते हैं तथा जो देह सुख में संलग्न हैं उनके लिए यह लोक सुखकर है, परलोक में वे दुःख भोगते हैं।[19]

(ii) जो योगयुक्त हैं, तपस्या में संलग्न हैं, स्वाध्यायशील हैं, जितेन्द्रिय हैं, प्राणिहिंसा से निवृत्त हैं, उनके लिए यह लोक सुखकारक नहीं है। वे परलोक में परम कल्याण का अनुभव करते हैं।[20]

(iii) जो पहले धर्म का आचरण करते हैं, फिर धर्म से समय पर धन प्राप्त करके स्त्री से विवाह करके यज्ञ करते हैं, उनको इहलोक एवं परलोक दोनों सुखकर होते हैं।[21]

(iv) जो विद्या, तप एवं दान का आचरण नहीं करते हैं, न ही वे मूढ जन प्रकृष्ट बनने का प्रयत्न करते हैं, न सुख एवं भोगों का अनुगमन करते हैं उनको इहलोक एवं परलोक दोनों सुखकर नहीं होते हैं।[22]

यहां पर मार्कण्डेय ऋषि ने जो सुख-दुःख का रूप प्रस्तुत किया है, वह भौतिक पदार्थों एवं इन्द्रियों के आश्रित निरूपित किया है। इनसे मनुष्य का कल्याण नहीं होता है। मनुष्य के लिए श्रेयकारी तो विषयों से विरक्ति तथा भोग-साधनों में अनासक्ति है।

8. युधिष्ठिर आदि का कष्ट भावीसुख प्रदायक

युधिष्ठिर धर्मराज हैं, फिर भी द्वादशवर्ष पर्यन्त वन में दर-दर भटकने के कारण कष्ट में हैं। दूसरी ओर दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्र छलकपट से राज्य का सुख भोग रहे हैं। इस समस्या का समाधान करते हुए एवं युधिष्ठिर के मनोबल को सुदृढ़ करते हुए मार्कण्डेय कहते हैं-आप सभी बड़े पराक्रमी हैं, दिव्य ओज से युक्त हैं, सुदृढ़ शरीर युक्त हैं, देवों का कार्य सिद्ध करने के लिए परलोक से इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं, अतः आपने सभी उत्तम विद्याएं सीखी हैं। आप सभी शूरवीर हैं, तप, इन्द्रिय-संयम, उत्तम आचार-व्यवहार में निपुण हैं। अतः आप महान् कार्य करके देवों, ऋषियों और पितरों को उत्तम विधि से तृप्त करके अपने कर्मों से पुण्यात्माओं के निवास स्थान स्वर्ग को प्राप्त करोगे। इसलिए हे कौरवेन्द्र युधिष्ठिर! आप अपने वनवास आदि के कष्ट को देखकर शङ्का नहीं करें कि सज्जन पुरुष दुःखी होते हैं। वस्तुतः यह कष्ट भावीसुख प्रदायक है।[23]

9. कर्म का फल अवश्य

क्रियमाण कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है, मात्र खिन्न होकर बैठे रहने से कोई शोभन परिणाम नहीं मिलता है।[24] *भगवद्गीता* में फलाकांक्षा के बिना कर्म करने की बात से कोई असंतुष्ट एवं अकर्मण्य न हो, एतदर्थ यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि कर्म का फल अवश्य मिलता है, अतः कर्म किया जाए।

10. मोक्ष एवं स्वर्ग

जब कोई जीव भय, शोक, राग, द्वेष आदि से पूर्णतः रहित हो जाता है तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता है, जैसा कि मार्कण्डेय ने कहा है—

वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च।
श्रुत्वेमां तु कथां राजन् न भवन्तीह मानवाः॥[25]

जो पाप से रहित हैं, शोक, भय एवं क्रोध से रहित हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता हैं। पुनर्जन्म नहीं होना मोक्ष है।

जो वाक् शौच, कर्म शौच तथा जलशौच से सम्पन्न है वह स्वर्ग की प्राप्ति करता है—

वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम्।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नात्र संशयः॥[26]

11. कर्मसम्बन्धी अन्य मार्गदर्शक सूत्र

मार्कण्डेय गीता में अन्य भी महत्त्वपूर्ण वाक्य कर्म करने के लिए मार्गदर्शक हैं, यथा-

(i) मात्र शरीर को सुखा देना तप नहीं है। जो मन, वाणी, कर्म एवं बुद्धि से पाप नहीं करते हैं वे महात्मा तपस्वी हैं।[27]

(ii) जो निरन्तर घर पर भी पवित्रभाव से रहता है, सद्गुणों से विभूषित होता है, जीवनपर्यन्त दयाभाव से युक्त रहता है वह मुनि ही है एवं वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।[28]

(iii) अनशन आदि से पाप कर्मों की शुद्धि नहीं होती है, अनशन से तो मांस एवं शोणित से युक्त शरीर क्षीण होता है।[29]

(iv) अज्ञानतापूर्वक कर्म करने से क्लेश ही होता है, पाप कर्म क्षीण नहीं होता। भावशून्य देही के तप आदि की अग्नि भी पाप कर्मों को नहीं जला पाती है।[30]

(v) केवल मूल फल खाने से, मौन रहने से, मात्र वायु का सेवन करने से, सिर मुंडाने से, कुटिया में रहकर आसन लगाने से, जटा धारण करने से, भूमि पर शयन करने मात्र से, नित्य उपवास करने से, अग्नि तपाने, जल प्रवेश करने आदि मात्र से आत्म-शुद्धि नहीं होती है। पुण्य (शुभ भाव) से ही ये शुद्धि के कारण बनते हैं।[31]

(vi) ज्ञान एवं सत्कर्म से ही जरा, मृत्यु तथा रोगों का विनाश होता है और उत्तम पद की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार अग्नि से दग्ध बीज पुनः नहीं उगते हैं, उसी प्रकार ज्ञान से दग्ध हुए क्लेश फिर से संयुक्त नहीं होते हैं।[32] ज्ञान ही मोक्ष का लक्षण (साधन) है।[33]

(vii) जानने योग्य परमात्म तत्त्व का ज्ञान वेदों के द्वारा ही प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए। शुष्क तर्क को छोड़कर श्रुति एवं स्मृति का आश्रय लेना चाहिए।[34]

(viii) तप करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, दान से भोगों की प्राप्ति होती है। ज्ञान से मोक्ष होता है तथा तीर्थ स्नान से पापक्षय समझना चाहिए।[35]

(ix) दान के सम्बन्ध में भी पृच्छा करने पर युधिष्ठिर को मार्कण्डेय ऋषि ने दान की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा-त्रिलोक में दान से बढ़कर शाश्वत पुण्यदायक कर्म दूसरा पहले नहीं हुआ, इसलिए विशिष्ट बुद्धि वाले लोग संसार में दान को ही उत्कृष्ट पुण्यकर्म बताते हैं।[36]

महाभारत में मार्कण्डेय ने अपने मुख से युधिष्ठिर को सीधे जो वचन कहे हैं, उन्हीं को प्रस्तुत आलेख में आधार बनाया गया है। मार्कण्डेय ने अन्य राजाओं, धर्मव्याध आदि के मुख से भी कर्म सम्बन्धी उपयोगी

वाक्य कहलवाए हैं, किन्तु उनका समावेश इसमें नहीं किया गया है। मार्कण्डेय ने अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला है, किन्तु इस आलेख में कर्म-सम्बन्धी विषय वस्तु का ही उपादान किया गया है।

समीक्षा

मार्कण्डेय के उत्तर युधिष्ठिर के लिए नहीं, अपितु जन साधारण के लिए उपादेय हैं। युधिष्ठिर तो धर्मवेत्ता हैं, उन्हें यह सब विदित है, तथापि उनके द्वारा कृत प्रश्न सबके प्रश्न हैं एवं मार्कण्डेय कृत समाधान सर्वांग न होते हुए भी पर्याप्त रूप से सन्तुष्टि कारक हैं।

जिस क्रम से युधिष्ठर के द्वारा प्रश्न उपस्थापित किए गए हैं, मार्कण्डेय ऋषि उस क्रम की अपेक्षा समग्र प्रश्नों को ध्यान में रखकर उत्तर देते हैं। मार्कण्डेय को यह ज्ञात है कि प्रलय के पश्चात् नये शरीरों की रचना विधाता के द्वारा की जाती है, अतः उस समय पूर्वकृत कर्मों के फल की कोई कारणता नहीं हैं। सब प्राणी विशुद्ध शरीर वाले एवं सुखी होते हैं, किन्तु जब कालान्तर में वे काम, क्रोध आदि दोषों से युक्त हो जाते हैं तो अशुभ कर्मों का भी उपार्जन करते हैं, जिनका फल उन्हें दुःख रूप में भोगना पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि शुभाशुभ कर्मों का फल तत्काल मिलता है या कालान्तर में प्राप्त होता है? इस सम्बन्ध में कृत विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कुछ कर्मों का फल तत्काल भी मिल सकता है, जैसे मिर्ची खाने पर तत्काल मुँह जलता है तथा कुछ कर्मों का फल कालान्तर में इस जीवन में अथवा अन्य किसी जीवन में भी प्राप्त हो सकता है। जैसे कि बीज बोने पर फल कालान्तर में प्राप्त होता है। धर्मराज युधिष्ठिर आदि से सम्भव है पूर्व भव में अथवा इसी भव में कोई ऐसी भूल हुई हो, जिसका फल उन्हें राज्य से वंचना एवं वनवास के रूप में भोगना पड़ा हो। किन्तु अभी किए जा रहे सद्विचार एवं सदाचरण रूप धर्म का फल उन्हें सुखदायक होगा, इसका संकेत मार्कण्डेय ऋषि ने अपने वक्तव्य में कर दिया है। एक बात यह ध्यातव्य है कि कर्मों का फल सुखद परिस्थिति एवं दुःखद परिस्थिति के रूप में प्राप्त होता है, सुख एवं दुःख का अनुभव करना तो व्यक्ति के स्वयं के सोच एवं दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। पाण्डवों ने दुःखद परिस्थिति में भी अपने विचारों को धर्मनिष्ठ बनाये रखा है, अनीति एवं दुराचारपूर्वक विजय का भाव नहीं अपनाया है। इसीलिए उन्हें भविष्य में सुखद या अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने का संकेत मार्कण्डेय ने किया है। कर्म के अनुरूप ही विभिन्न योनियों में जन्म-मरण होता है, इसे भी मार्कण्डेय ऋषि ने अशुभ कर्मों के कारण नरक, तिर्यक् योनियों में गमन तथा शुभ कर्मों के कारण स्वर्ग में जन्म बताकर स्पष्ट कर दिया है। इससे यह भी साफ हो जाता है कि यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य का मृत्यु के पश्चात पुनः मनुष्य योनि में ही जन्म हो, वह अन्य योनियों में भी जन्म ग्रहण कर सकता है। एक अन्य तथ्य यह भी स्पष्ट होता है कि मृत्यु के साथ ही आत्मा अन्य योनि में जन्म ग्रहण कर लेता है। मार्कण्डेय ने इसके लिए 'युगपद्' तथा 'अन्तराभवः' शब्द का प्रयोग किया है। युगपद् का तात्पर्य है मृत्यु एवं जन्म में कोई अन्तराल नहीं रहता है। अन्तरा+अभवः का

तात्पर्य है- जन्म ग्रहण किए बिना जीव नहीं रहता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मृत्यु के पश्चात् जन्म ग्रहण किए बिना आत्मा के भटकने की जो धारणा प्रचलित है, वह भ्रान्त है।

वैदिक परम्परा में प्रायः कर्मों का फल सुखद या दुःखद बताया गया है, किन्तु जैन दर्शन में बन्ध, उदय आदि की अपेक्षा कर्म के आठ प्रकार निरूपित हैं-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय। ज्ञानावरण ज्ञान को आवरित करता है, दर्शनावरण संवेदन शक्ति को ढक देता है, वेदनीय कर्म सुख-दुःख प्रदान करता है, मोहनीय कर्म जीव को मूढ़ बनाए रखता है तथा उसे क्रोध, मान, माया एवं लोभ से आविष्ट करता है। आयुष्य कर्म के कारण जीव एक भव या योनि में निश्चित अवधि तक रहता है। वह नरक, तिर्यक्, मनुष्य या देव आयु को ग्रहण करता है। नाम कर्म से शरीर, इन्द्रिय आदि की प्राप्ति होती है, गोत्र कर्म के कारण उच्च एवं निम्न संस्कार प्राप्त होते हैं तथा अन्तराय कर्म के कारण दान आदि में विघ्न उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ही कर्म आठ प्रकार से फल प्रदान करता है। इस प्रकार का विस्तृत विभाजन बौद्ध त्रिपिटकों में भी उपलब्ध नहीं होता। योगसूत्र में अवश्य कृष्ण, शुक्ल, कृष्ण शुक्ल एवं अकृष्ण शुक्ल के भेद से चार प्रकार के कर्म कहे गए हैं।

कर्मों का वास्तविक कर्त्ता जीव स्वयं है एवं तदनुरूप ही उसे फल की प्राप्ति होती है। ईश्वर को हमारे कर्म का कर्त्ता मानने में नैतिकता के सम्बन्ध में बहुत से प्रश्न खड़े होते हैं। नैतिक, सामाजिक एवं जागतिक व्यवस्था की दृष्टि से भी कर्मों के अनुरूप फल प्राप्ति का नियम ही हितकर है। अब प्रश्न यह है कि ये कर्म कहाँ संचित होते हैं? इस सम्बन्ध में मार्कण्डेय ने स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, किन्तु 'आदिशरीर' शब्द का प्रयोग किया है। यह आदि शरीर या तो कारण शरीर हो सकता है या सूक्ष्म शरीर। कारण शरीर में कर्म का संचित होना सम्भव है तथा ये दोनों शरीर मृत्यु के पश्चात् भी जीव के साथ गमन करते हैं। अतः अन्य भव में भी इन कर्मों का फल प्राप्त होता है। हमारे कर्मों का संचय किसी अन्य स्थान पर नहीं, हमारे साथ होना ही अधिक औचित्यपूर्ण है। कारण शरीर में रहने वाले कर्म जीव से इहलोक में भी संयुक्त हो सकते हैं, तथा परलोक में भी। अतः कर्मों के अनुरूप फल प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं रहता है।

भगवद्गीता में जहां कर्मयोग के अन्तर्गत निष्काम कर्म पर बल प्रदान किया गया है, वहाँ मार्कण्डेय गीता में कर्मफल एवं उसके विभिन्न आयामों को लेकर सुन्दर मार्गदर्शन किया गया है।

संदर्भ

1. अध्याय 183 में कर्मविषयक निरूपण है। शेष अध्यायों की विषय वस्तु इस प्रकार हैं- तपस्वियों एवं ब्राह्मणों के माहात्म्य का निरूपण (184), अत्रिमुनि तथा राजा पृथु की प्रशंसा (185), तार्क्ष्यमुनि एवं सरस्वती में संवाद (186), वैवस्वत मनुके चरित्र तथा मत्स्यावतार की कथा का वर्णन (187), चतुर्युगों की वर्ष संख्या, कलियुग एवं प्रलयकाल का दृश्य, बालमुकुन्द के दर्शन मार्कण्डेय द्वारा उनके उदर में प्रवेश, निष्क्रमण, वार्तालाप आदि (188) बालमुकुन्द द्वारा मार्कण्डेय को अपना परिचय, मार्कण्डेय द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा का प्रतिपादन और पाण्डवों का श्रीकृष्ण की शरण में गमन (189), कलियुग का विशेष वर्णन (190), कल्की अवतार द्वारा पुनः सत्ययुग की स्थापना और मार्कण्डेय द्वारा युधिष्ठिर को

धर्मोपदेश (191)। 192 से 232 तक के अध्यायों में मार्कण्डेय द्वारा प्रायः अन्य संवादों एवं घटनाओं का ही चित्रण किया गया है, मात्र अध्याय 200 में मार्कण्डेय के वचनों का विशेष निरूपण है।

2. व्यदृश्यत तथा युक्तो यथा स्यात् पञ्चविंशकः।
तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम्॥-*महाभारत*, वनपर्व, अध्याय 183, श्लोक 43, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2070 चौदहवां पुनर्मुद्रण

3. शुश्रूषवः पाण्डवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाहं परमं वचः॥
पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान् सनातनान्।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कण्डेय विचक्ष्व नः।-*महाभारत*, वनपर्व, 183. 45-46

4. *महाभारत*, वनपर्व, 183. 56-60

5. त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद् वदतां वर।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि॥

6. *महाभारत*, वन पर्व 183. 63-69

7. द्रष्टव्य, *महाभारत*, वनपर्व, 183.70-73

8. अशुभैः कर्मभिः पापास्तिर्यङ्निरयगामिनः।
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनः पुनः।। — *महाभारत*, वनपर्व, 183.70

9. द्रष्टव्य, *महाभारत*, वनपर्व, 183. 71-73

10. द्रष्टव्य, *महाभारत*, वनपर्व, 183. 81-83

11. द्रष्टव्य, *महाभारत*, वनपर्व, 183. 84-85

12. *महाभारत*, वनपर्व, 183.78

13. *महाभारत*, वनपर्व, 183.79

14. अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः।
शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत्॥
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभवः॥ — *महाभारत*, वनपर्व 183.76-77

15. द्रष्टव्य, *तत्त्वार्थसूत्र*, अध्याय 2

16. सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभवः॥ -*महाभारत*, वनपर्व, 183.77

17. *महाभारत*, वनपर्व, 183.86

18. इह वैकस्य नामुत्र, अमुत्रैकस्य नो इह।
इह वामुत्र चैकस्य, नामुत्रैकस्य नो इह॥-*महाभारत*, वनपर्व, 183.88

19. *महाभारत*, वनपर्व, 183.89

20. *महाभारत*, वन पर्व, 183.90

21. ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति, धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते, तेषामयं चैव परश्च लोकः ॥- *महाभारत*, वनपर्व, 183.91

22. *महाभारत*, वनपर्व, 183.92

23. *महाभारत*, वनपर्व, 183.93-95

24. अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम्।
न हि निर्वेदमागम्य किञ्चित् प्राप्नोति शोभनम्॥-*महाभारत*, वनपर्व, 216.26

25. *महाभारत*, वनपर्व, 200.80

26. *महाभारत*, वनपर्व, 200.82

27. ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम्॥ -*महाभारत*, वनपर्व, 200.99

28. *महाभारत*, वनपर्व, 200.101

29. *महाभारत*, वनपर्व, 200.102

30. *महाभारत*, वनपर्व, 200.103

31. *महाभारत*, वनपर्व, 200.104-106

32. *महाभारत*, वनपर्व, 200.107-108

33. प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् -*महाभारत*, वनपर्व, 200.111

34. *महाभारत*, वनपर्व 200.114

35. तपसा स्वर्गगमनं, भोगो दानेन जायते।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः॥-*महाभारत*, वनपर्व, 200.118

36. *महाभारत*, वनपर्व 200.129

पूर्व-प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
S1-28, आयुवानसिंह नगर, महारानी फार्म्स,
दुर्गापुरा, जयपुर-302018
मोबाइल-9413253084

अरविन्द दर्शन के परिप्रेक्ष्य में परमात्मा प्राप्ति के मार्ग

रामकिशोर पारीक

विभिन्न कालों में विभिन्न मनीषियों ने योग का निस्तारण विभिन्न प्रकार से किया किन्तु इनसे प्राप्त फल सबको एक ही दृष्ट हुआ। पूर्व पैदा हुए वशिष्ठ, अगस्त्य, अत्रि, भारद्वाज, गौतम, कपिल, जैमिनि, चार्वाक आदि ऋषियों ने अपने-अपने मतानुसार ईश्वर मार्ग का वर्णन किया तथा अन्ततः उनके परिणाम में सभी एक चिरशान्ति की अवस्था को बदलाते थे। कहने का अर्थ है व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, जैविक व पराजैविक शक्तियों के अनुसार उन्होंने अपने मार्ग चुने जिससे देश, काल व वातावरण भी साधनाक्रम के हेतु रहे। परन्तु उनमें कोई आपसी भेद व व्यवहार संकीर्णता नहीं थी अर्थात् सभी देश काल के अनुसार सही थे।

केवल के पद केवला, नहीं भेद व्योहार।
सबहि जीवणमुकत है, सबकी गति इकसार।।41।।

मुकत जीवणमुक्त हो, मोक्ष होय निर्वाण।
केवल पद केवल सभी, समता को परमाण।।42।।

तो भेद बुद्धि को त्यागकर, भजतां रहो हरिनाम।
आखर सबको मीलणो, वही राम के धाम।।43।।

समन्द जल जो जग रहे, कुआ बावडी मॉय।
सर सरिता सरितासुतन, सकल चराचर मॉय।।45।।

सब समन्द ते आवतो, परलय एको लाय।
जीव वासना हेतु लग, दूरो रहे पडाय।।46।।

सबकी पाया एक गति, भगत, ज्ञानी विरागी।
योग हुया योगी बणे, चाहे जिण पथ जागी।।50।।

पंथ हरी को धाम है, करम राम मिल मूढ़।
आतमरति से पाइये, सहजा केवल गूढ़।।51।।

कैवल्ययोगस्मृति 2 कैवल्यखण्ड

अर्थात् कैवल्य पद को प्राप्त मुक्तों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं है जैसे सारा जल उस समुद्र से आता है। किन्तु उसे वापस समुद्र तक लौटने में विभिन्न रूप से जाना जाता है। कुछ तो बड़ी कठिनाई से वापस समुद्र तक जाता है जो फिर भी लौट नहीं पाता व प्रलय काल में एकाकार हो जाता है। इसे मुक्ति, जीवन-मुक्ति, केवलपद या निर्वाण कुछ भी कहो, सब एक ही है। भक्त ज्ञानी व वैरागी पूर्णता प्राप्त होने पर एक ही अवस्था वाले होते हैं। जैसे कबीर, रैदास, तुलसी व सूरदास एक समान पर मिलने पर सभी भेद मिटाकर (उनमें भेद है ही नहीं) एक-दूसरे से गले मिलते हैं क्योंकि उन्होंने एक ही सत्य का साक्षात्कार किया है।

परमात्मा की इस अवस्था की प्राप्ति उस अवस्था की द्योतक है जैसे कोई व्यक्ति पर्वत की उच्चतम चोटी पर पहुँच गया हो। वहाँ से चोटी तक पहुँचने वाले सभी मार्ग उसके लिए स्पष्ट व जाने हुए से लगने लगते हैं। अब जो पहुँचा ही नहीं वह बताता है, मुझे यह मार्ग नहीं आता।

योग

योग का अर्थ ईश्वर मिलन से कहाँ है। यहाँ पारलौकिक स्तर पर (ज्ञानयोग दृष्टि से), सार्वभौमिक स्तर पर (कर्मयोग पथ से) वैयक्तिक स्तर पर (भक्तियोग मार्ग से) किया जा सकता है।

महर्षि अरविन्द ने इसे एक प्रक्रिया के रूप में बताया है जिसमें अपनी चेतना को विस्तृत करने, उच्चतर उठने तथा अन्ततः एकरूप होने की प्रक्रिया के रूप में देखा है। उन्होंने इसे पूर्ण अद्वैत योग कहा है। इस जगत् में मनुष्य जन्म दुर्लभ है। परमात्मा से उत्पन्न यह मनुष्य उसी की तरह सर्वविध गुणों से युक्त पैदा किया गया है। किन्तु बाह्य जगत् की तरह आकर्षित यह जीव बार-बार जगत् में आता-जाता है। पूर्वजन्म कृत कर्म एवं संस्कार ही उसके पूर्ण बनने की गति में बाधा है।

जन्मानि सहस्राणि तपोयोगसमाधिभिः।
क्षीयते पापपुण्यानि कृष्णभक्तिः प्रजायते। — *याज्ञवल्क्य स्मृति*

कई जन्मों तक तपस्या, यज्ञ व ध्यानादि के अभ्यास से जब पाप व पुण्य दोनों क्षीण हो जाते हैं तब साधक में धूमाकाश (कृष्ण) की गति प्राप्त होती है। कृष्ण याज्ञवल्क्य के समय तक पृथ्वी पर थे ही नहीं अतः यह कृष्ण का अर्थ धूमाकाश, त्रिपुटी ही लेना उचित होगा।

(1) योग एक आन्तरिक यात्रा के रूप में लक्षित की गई है जिसमें भावप्रधान साधना पर जोर दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि महर्षि अरविन्द पूर्वजन्मों में इन स्तरों से ऊपर उठ चुके थे। अतः वे बाह्य व्यवहार पर जोर नहीं देते।

न्हाबो धोबो वासना, खाबो पीबो फन्द।
पूजा लूजा प्रवंचणा, धारे जग मतिमन्द।। — *रामरसिका*

उनका मत इस प्रकार स्पष्ट होता है—

खूटे बांधो राम के, निरभे रहो हरि धाम।
धीरे-धीरे बावळा, सबमें दीसे राम।। — *रामरसिका*

अपना लक्ष्य उस परमात्मा की प्राप्ति स्थिरकर, निर्भय (निडर) होकर उस परमात्मा के धाम में रहने का भाव जगाओ। धीरे-धीरे वह पूरी सृष्टि के कण-कण में दृष्ट होने लगेगा। राम-हरि आदि तो परमात्मा के सांकेतिक अर्थ समझो।

(2) अरविन्द दर्शन निधेधात्मक नहीं है अर्थात् यह आत्मा ही अनात्म का शुद्धरूप है—

फितरत तो देख खुदा की जर्रे मिशल है आम।
पीता नहीं क्यों आशिक, इल्मे खुदा का जाम।।

— *केवल की केवल यात्रा*

ऐ बन्दे देख उस परमात्मा का चमत्कार वह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। वह इस सृष्टि के कण-कण में कैसे व्याप्त है? इस ज्ञान को जान, फिर तू उसके प्रेम में सराबोर हो जावेगा। भक्त पहले मूर्ति में परमात्मा देखता है फिर उसे पूर्णता प्राप्ति में सभी में दिखने लगता है और वह कह उठता है—

सर्वं चराचरं वन्दे नारायणस्वरूपिणम्।

(3) अरविन्द कहते हैं कि शरीर व मन का निषेध उचित नहीं बल्कि शरीर व मन की शक्ति को इतना ◌ करना है कि वह मानसिक प्रकाश में रूपान्तरित हो जावे। जैसा कि कहा है—

मन घोड़ा, जीन जप, पाहुड़ दिड़ विस्वास।
अस घोड़ो असवार, पावत आतमसात्।।

— *केवल की केवल यात्रा*

मानव को प्राप्त मन एक ऐसा अश्व है जिसके माध्यम से हम जागतिक व पारलौकिक सब यात्राएँ कर सकते हैं। अत: इसे न वश करना, न मारना, न कमजोर बनाना वरन् इसकी दिशा बाह्य से अन्तर में कर लेना ही परमात्मा के मार्ग का हेतु है। जप सदा याद रखना की मेरा लक्ष्य परमात्मा प्राप्ति है। जगत् बन्धन में फँसना नहीं। घोड़े पर बैठकर पैर रखने के पांवचे साधक की दृढ़ता है। लक्ष्य लम्बी साधना के बाद भी प्राप्त न हो, या साधना के फलस्वरूप भी कष्ट व बाधाएँ मिले तो धैर्य न छोड़े, दृढ़ता से साधनरत रहे। जैसे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत:।

उठो जागो तथा तब तक मत रुको जब तक लक्ष्य न मिल जावे।

साधारण स्त्री का कष्ट तो नौ माह का होता है किन्तु भक्त के कष्ट की कोई सीमा नहीं वह तो तभी शान्ति होता है जब वह एकाकार हो जाता है, चाहे उसमें कितना भी समय लगे।

(4) समाधि को अरविन्द कहते हैं कि इसकी पूर्णता की यह अवस्था जगत् में जाग्रत् रहते हुए भी सम्भव है। तो यह सत्य है जब समाधि सहज समाधि में पूर्णावस्था में पहुँच जाती है तो साधक खुली आँखों, सभी प्रकार जगत् में कार्य करते हुए भी समाधिस्थ रहने लगता है। समाधि में शरीर भान का न रहना प्रारम्भिक अवस्था है। आखिरी अवस्था तो कृष्ण व व्यास आदि की थी जो सब समय समाधिस्थ की अवस्था में रहते थे। अत: यह तो स्वत: आने वाली स्थितियाँ है। पुस्तकों में इसका वर्णन न होना कोई दोष नहीं क्योंकि यह अवस्था तो पूर्णता पर आनी ही है।

(5) सर्वमुक्ति योग का लक्ष्य—अरविन्द योग का लक्ष्य सभी की मुक्ति से लेते हैं जो अभी तक सम्भव नहीं हो पाया है। नानक-कबीर आदि भी सबको क्या अपने सभी शिष्यों को भी मुक्त नहीं कर पाये। अत: ऐसी स्थिति वाला सन्त पुरुष अभी तक इस पृथ्वी पर नहीं देखा गया है। हाँ, उसके सामने आने वाले जीव कुछ समय के लिए अच्छे व्यवहार वाले हो जाते हैं। पुरातन काल में ऋषियों के आश्रम में हिंस्र जीव भी वैर भाव का त्याग कर देते थे।

(6) अत: अरविन्द की योग प्रचलित योग विधि से भिन्न है, ऐसा समालोचक कहते हैं जो उचित नहीं है। व्याख्या का तरीका ही भिन्न है योग की यह स्थिति सीधी भाव योग से प्रारम्भ होती है। स्थूल से सूक्ष्म की विकास यात्रा को वे बताते हैं। ये सब स्थिति या संन्यास योग की 6 स्थितियों (कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीय व तुरीयातीत) से स्पष्ट हो जाती है। स्थूल प्राप्ति के लिए सामान्य जन योग अभ्यास करते हैं। सूक्ष्म जगत् की यात्रा में भी वे उच्चतर स्थिति का अभ्यास नहीं करते। अत: ऐसा सोचते हैं कि यह योग और तरह का है। जैसा कहा गया है—

देख्या सुणिया विषय को, ध्यानचित्त न आय।
विषय भोग तिरसा मिटे, केवल विराग कहाय।।38।।

पहले तजे धूल को, केवल वैरागहि आय।
सूक्ष्म आतम आणन्द तज, पर वैराग लहाय।।39।।

ज्ञान पाय ज्ञानहि तजें, भाव अमावहि जाय।
परवैराग लहायकर, जगतहि केवल पाय।।40।।

— केवल योग स्मृति, 2-4

देखे सुने विषय के प्रति चित्त में सर्वथा ध्यान ही न आये। विषय व भोग की इच्छा का मिट जाना वैराग्य है। अर्थात् जागतिक पदार्थों से लगाव हट जाना। 'इन्द्रिया इन्द्रियार्थेषु वतन्ते इति मन्यते।' वाली स्थिति को वैराग्य कहा है।

स्थूल (अपने चारों तरफ स्थित विषय) से लगाव (Attechment) खत्म होना वैराग्य है। अब आन्तरिक स्थितियों में दिव्य दर्शन, उच्चतर लोकों की यात्रा सम्बन्धी लगाव का भी समाप्त हो जाना पर वैराग्य है।

इस प्रकार ज्ञान को जानकर उससे भी अपनी प्राप्ति का त्याग हो जाना। (इसे छोड़ा नहीं, वह स्वत: छूट गया है) भाव व अभाव दोनों अवस्थाएँ उस पर प्रभाव नहीं डालती है। ऐसी योग स्थिति का सहज व्यवहार हो जाना महर्षि अरविन्द के अनुसार योग की पूर्णता है।

महर्षि अरविन्द ने योग की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है—

1. आत्मिक प्रक्रिया

उसके व्यवहार में भौतिक, जैविक व मानसिक स्तर पर कृतार्थ भाव में जीने का व्यवहार बनने लगें। वह समष्टि व शरीर व अपनी मानसिक स्थितियों को प्रकृति माँ का वरदान समझने लगे। जगत् मिथ्या की जगह जगत् सार की अवस्था व भाव का उदय हो। इसी को अरविन्द 'चिद्-शक्ति माँ का रूप दिखाई देने' की बात कहते हैं। इसकी आन्तरिक रूप से गहनता ही आत्मीयता है।

मानव जीवन सार्थक है, उसे प्राप्त साधन प्रकृति माँ की महती कृपा है। वह अपने व्यवहार में इस जगत् को अपनी चित् शक्ति माँ जानकर व्यवहार करने लगे। 'जगत् सार है' (मालिक मेरा है)

दादू मेरी पीर है, दादू मेरो पीर।
दादू दादू करत हो, दादू में बे पीर।।

2. आध्यात्मिक प्रक्रिया

'तीव्र संवेगानाम् आसन्न:' इस अवस्था में अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए तीव्रता उत्पन्न हो जाती है। वह स्थूल प्रकृति से प्रेम से आगे बढ़कर सूक्ष्म योग सोपानों की यात्रा करने लगता है। उसका आन्तरिक ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है। जीवन से शान्ति, शक्ति, ज्ञान तथा आनन्द की वृद्धि होती है। चित् शक्ति से साधक प्रबुद्ध होने लगता है। वह इस क्षमता वाला हो जाता है कि आगे की स्थितियों पर आरोहण के योग्य होता है। वास्तव में स्वत: स्फूर्त भाव यात्रा का इससे आरम्भ होता है। जगत् सार असार होनों है। (यह मेरा है)

3. अतिमानसिकता की प्रक्रिया

'सब कुछ ईश्वर है।' इस अवस्था में आध्यात्म उच्चतर चेतना का अवतरण होने लगता है। यह ईश्वरीय व्यवहार वाली हो जाती है। सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर का विस्तार है—

आपा मेटे हरि भजे, तनमन तजे विकार।
निर्वैरी सब जीव सू, दादू के मत सार।।

जीवन में सभी विषमताएँ समाप्त हो जाती है। प्रकृति व जीव जगत् के साथ मनस व मनस यात्रा के सभी झंझावात शान्त हो जाते हैं। इसकी महर्षि अरविन्द ने 4 अवस्थाएँ बताई हैं—(1) अचंचलता, (2) स्थिरता, (3) शान्ति, व (4) नीरवता।

दुःख सुख एको करे, विरता[1] कबहुन जाय।
ताको नर साधु कहो, और विरथ भ्रम लाय।।

— केवल की केवल यात्रा, 9

इसी के साथ उसमें आत्म मानस स्थिति आ जाती है। उसे सार्वभौमिकता (चेतनापूर्ण विस्तार), परात्मकता (पूर्ण एकत्व की स्पष्ट अनुभूति होने लगती है। वह स्थिति स्थिर हो जाती है)। गीता में इसे ही स्थितप्रज्ञ की अवस्था कहा है। जैसे—

सर्वं चराचरं वन्दे, नारायणस्वरूपिणम्।।

महर्षि अरविन्द का कहना है जब —

पूर्णमिदम्, पूर्णमदः, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते।।

कहा गया है तो योग की पूर्णता भी यही स्थिति होती है। प्राप्त पूर्णत्व प्राप्त पूर्वापर मनीषियों का व्यवहार भी ऐसा ही था। हठ, अष्टांग योग, भक्ति, कर्म व ज्ञानयोग का भी अन्तिम लक्ष्य व प्राप्त स्थिति यही है।

योग एक सहज पथ है जिसमें अगली अवस्था पहली के बाद योग्यतानुसार स्वतः आती रहती है। अन्तिम कुछ अवस्थाओं का तो शास्त्रों में वर्णन भी नहीं होता। कुछ के मानसिक व भाविक प्रक्रिया इतनी रहस्यमयी होती है कि कहना मुश्किल होता है कि क्या किया गया? कैसे किया? व क्या घटित हुआ?

सबै ज्ञान आकाश रह, जो खोजे सो जाण।
जाकी तां में जो गति, ते तो ही सत् आण।।

—केवल्य योग स्मृति-2, 4-110

142, शिवनगर, दादी का फाटक,
जयपुर-302040
मो. 9414781638

1. ईश्वर ध्यान में स्थिरता बनी रहना।

दादूदयाल की साधना के विविध पक्ष

सुनील कुमार छीपा

दादूदयालः जीवन और कृतित्व

दादू-पंथ के प्रवर्तक संत दादूदयाल धर्म-सुधारक, समाज-सुधारक, और रहस्यवादी कवि थे। मध्यकालीन साधकों में उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है। उनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार उनका जन्म 1544 ई. में हुआ था। दादू के गुरु वृद्ध भगवान थे, जनगोपाल की *जन्मलीलापरची* से इस मत की पुष्टि होती है। दादू-पंथ में प्रचलित हैं कि वे विवाहित थे और गरीबदास तथा मिस्कीनदास नामक उनके दो पुत्र थे। देश-भ्रमण के बाद दादू सन् 1573 ई. में मांभर में निवास करने लगे। इसी समय उन्होंने पंथ की स्थापना के संबंध में विचार प्रकट किया। फलतः नियमित रूप से श्रद्धालु, आस्थावान् नर-नारियों तथा अनुयायियों का सत्संग होने लगा। सत्संग का स्थल 'अलख दरीबा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। क्रमशः। ब्रह्म संप्रदाय रूपरेखा ग्रहण करने लगा, भविष्य में यही 'परब्रह्म संप्रदाय' के रूप में प्रख्यात हुआ और कालांतर में इसी को 'दादू-पंथ' संज्ञा प्राप्त हुई। दादू के जीवनकाल में यह पंथ बहुत लोकप्रिय हुआ और इसके अन्तर्गत रज्जब, सुन्दरदास, प्रागदास, जनगोपाल, जगजीवन प्रभृति प्रसिद्ध साधकों का आविर्भाव हुआ। राघोदास ने अपने '*भक्तमाल*' में दादू के प्रमुख बावन शिष्यों का उल्लेख किया हैं, जिनमें रज्जब और सुन्दरदास सर्वप्रमुख थे। जन्मलीलापरची के अनुसार दादूदयाल का महाप्रस्थान 1603 ई. में हुआ। दादू के महाप्रयाण के अनन्तर क्रमशः उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास और कनिष्ठ पुत्र मिस्कीनदास उत्तराधिकारी हुए।[1]

दादू प्रतिभाशाली कवि थे। प्रसिद्ध है कि उन्होंने बीस सहस्र पदों और सखियों की रचना की थी किंतु अब इनमें से बहुत कम उपलब्ध हैं। दादू की रचनाओं का पहला संकलन '*हरडे वाणी*' के नाम से निकला था, जिसका संग्रह उनके शिष्य संत दास और जगन्नाथ दास ने किया था। इसके बाद रज्जब ने संवत् 1700 के लगभग इसका संशोधित संकलन तैयार किया, जिसमें 37 अंग है। इस संग्रह का नाम *'अंग वधू'* रखा गया था।[2] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने *दादूदयाल* (ग्रंथावली) के नाम से एक महत्त्वपूर्ण संकलन तैयार किया है।

निर्गुणपंथियों के समान दादूपंथी लोग भी अपने को निरंजन, निराकार का उपासक बताते हैं। ये लोग 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं।[3]

संत दादू की विचारधारा कबीर से प्रभावित है। निर्गुण भक्त कवि होने पर भी उन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है। इसी प्रकार भक्ति को उन्होंने सहज भाव से अंगीकार किया है, किसी मतवाद की उलझन में वे नहीं पड़े हैं। उनकी काव्यभाषा ब्रजभाषा है, जिसमें राजस्थानी और खड़ी बोली के शब्दों का मिश्रण भी मिलता है। उनकी भाषा कबीर की अपेक्षा सरल और बोधगम्य है। उनकी वाणी में ओज तथा गांभीर्य दोनों के दोनों के दर्शन हो जाते हैं।[4] सारांशतः कहा जा सकता है कि दादूदयाल एक महान् संत थे। ऐसे साधु जिसने विष को अमृत, आग को पानी, बंधनयुक्त को बंधनमुक्त और शत्रु को मित्र बना लिया था—

विष को अमृत कर लिया, पावक का पानी।
बाँका सूधा कर लिया, सो साधु विनानी।।
बंध्या मुक्ता कर लिया, उरझिया सुरझि समान।
बैरी मीता कर लिया, दादू उत्तम ज्ञान।।[5]

दादूदयाल की साधना के विविध पक्ष

भगवान् अजर है, अमर हैं, सर्वव्यापी हैं। उसकी भक्ति भी अविचल, अविनाशी और अमर हैं। जिस भक्त के हृदय में निवास करती हैं तो स्वयः ही भक्त को स्वयं भगवान् जैसा बना देती है और वह भी ब्रह्म सजीवन ही बन जाती है—

दादू भक्ति निरंजन राम की, अविचल अविनाशी।
सदा सजीवन आतमा, सहजै परकाशी।।[6]

हमारे परमात्मा तो सर्व व्यापक रूप से हमारे अन्तःकरण में ही विद्यमान हैं, किन्तु अज्ञानी जन को भ्रमवश वह हृदय स्थान में दिखाई नहीं देता है। उसे छोड़कर अनात्म पदार्थों को ही ईश्वर मानकर सेवा करते है—

पूजन हारे पास है, देही मांही देव।
दादू ताको छोड़ कर, बाहर माँडी सेव।।[7]

ईश्वर सर्वव्यापी हैं और इतना महान् है कि उसमें सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है और सूक्ष्म भी इतना है कि जिसे किसी प्रकार से इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता। वह प्रभु पुष्प गन्ध से भी अतिसूक्ष्म हैं, वो सदा हमारे साथ रहता हैं—

दादू ऐसा बड़ा अगाध है, सूक्ष्म जैसा अंग।
पुहुप वास हैं पतला, सो सदा हमारे संग।।[8]

जीवात्मा यदि किसी भी प्रकार से मन, बुद्धि, इन्द्रियादि अन्य कुछ भी मायिक पदार्थों की कामना नहीं करे और सब मिल कर निष्काम पतिव्रत द्वारा निर्गुण का ही सर्वस्व स्वीकार करे, निरंतर हरिनाम चिन्तन करे, तो सगुण जीवात्मा भी। द्वैत भाव में बदल कर अद्वैत ब्रह्म से अभेद हो जाता है, अर्थात् साक्षात् दर्शन प्राप्त कर स्वयं ब्रह्म ही बन जाता है—

कछु न कीजे कामना, सहगुण निर्गुण होइ।
पलट जीव रौं ब्रह्म गति, सब मिल मानैं मोहि।।[9]

दादू जी महाराज का मार्ग

सन्त दादू दयाल जी उपासना के क्षेत्र में निष्पक्ष मध्य मार्ग को मानते हैं। वे किसी भी प्रकार के राग द्वेष व पखापखी में कभी नहीं पड़े, क्योंकि उनका उपास्य अतिइन्द्रिय त्रिगुणातीत परब्रह्म सब प्रकार के पक्षों, सम्प्रदायों व धर्मों से रहित है। उसकी आराधना का सच्चा स्वरूप यही हो सकता है कि आराध्य के अनुरूप ही निष्पक्ष व मध्य मार्ग का अनुसरण किया जाय। इसीलिए अपनी वाणी में भी कहा है—

दादू अलह राम का, द्वै पख हैं न्यारा।।
रहित गुण आकार का, सो गुरु हमारा।।
ना हम छाड़े ना गहैं, ऐसा ज्ञान विचार।
मध्य भाव सेवें सदा, दादू मुक्ति द्वार।।[10]

दादूदयाल जी का मध्य मार्ग निराधार व सब प्रकार के द्वैतात्मक द्वन्दों से रहित है, क्योंकि उनका उपास्य देव स्वयं निराधार व निर्द्वन्द्व हैं। इसीलिए अपनी वाणी में कह रहे हैं—

निराधार घर कीजिये, जहाँ नहीं धरणी आकाश।
दादू निश्चल मन रहे, निर्गुण के बेसास।।[11]

दादूदयाल जी की उपासना

सन्त दादूदयाल जी भगवत् प्राप्ति के लिए अन्य साधनों का अनुसरण न करके केवल मनोवृति रूप सुरति को अन्तर्मुख करके त्रिपुटी शून्य रूप सहज ब्रह्म में लगाने का ही उपदेश करते हैं। इसी से पाँचों इन्द्रियाँ एवं पंच प्राण अन्तर्मुख हो जाते हैं व सांसारिक विषयों से अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। अतः यही वास्तविक अनुभूति तथा यही सच्चा उपदेश है। उदाहरणार्थ—

एक सुरति सों सब रहैं, पंचों उन्मन लाग।
यहु अनुभव उपदेश यहु परम योग वैराग।।
दादू नीका नाम है, सो तू हिरदै राखि।

पाखण्ड प्रपंच दूर कर, सुन साधु जन की साखि।।
सब बातन की एक है, दुनियां तै दिल दूरि।
सांई सेती संग करि, सहज सुरति लय पूरि।।
सहगुण निर्गुण द्वै रहे, जैसे है तैसा लीन।
हरि सुमिरण ल्यो लाइये, काजाणों का कीन।।[12]

ब्रह्म निर्गुण, सगुण तथा दोनों से परे भी है। वह त्रिगुणात्मक प्रकृति से भी परे है। वास्तव में ब्रह्म मन-वाणी-बुद्धि का विषय ही नहीं है। परन्तु भक्तों की भक्ति तथा भावना के प्रभाव के वश होकर कल्याण आदि दिव्य गुणों से निर्गुण निराकार ब्रह्म ही सगुण साकार स्वरूप धारण करता है। *गीता* में भगवान् श्री कृष्ण ने भी सही कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञानं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।[13]

अर्थात् अनन्य भक्ति से परब्रह्म परमात्मा देखने, प्रवेश करने तथा तत्त्व से जानने के योग्य बनते हैं।

निखिल हेय प्रत्यनीक कल्याण गुण गुणाकर।।[14]

अनादि काल से इस सृष्टि को जो विकास और हास होता रहा है तथा आगे भी जो होगा वह सब भगवत् लीला विलास है। उसको देख कर उसकी सुन्दरता एवं मधुरता का रसास्वादन लेना ही भक्तों की महत्ता है।

दादू लीला राजा राम की, खेलैं सब ही सन्त।
आपा पर एकै भया, छुटै सबै भ्रंत।।[15]

सन्त दादूदयाल जी निर्गुण भक्तिमयी साधना में गुरु द्वारा उपदेश श्रवण और हरिनाम स्मरण के बाद अपने प्यारे प्रियतम प्रभु के प्रति तीव्रतर विरह का ही स्थान है। जिससे सहज में मनोवृत्ति-लय सुरति योग की प्राप्ति होती है। अतः आप की साधना जो श्रवण से प्रारम्भ होती है, क्रमशः नाम स्मरण, विरह व प्रीति को अपनाती हुई सुरति योग में लय होती है। वाणी द्वारा स्पष्ट बतला रहे हैं—

पहली श्रवण, द्वितीय रसन, तृतीय हिरदै गाइ।
चतुर्थी चेतन भया, तब रोम -रोम ल्यो लाइ।।[16]

दादूदयाल जी के उपास्य देव

दादू जी का उपास्य निर्गुण राम, निरंजन, निराकार, अलख, अनन्त, अनादि पूर्ण ब्रह्म परमात्मा स्वरूप है। वह न जन्मता, न वह मरता, न अवतरित होता और न गर्भ में आता है परन्तु सदा एक रस है। सम्पूर्ण जगत् उससे ही सृजन होकर पुनः उसी में संकल्प मात्र से लय हो जाता है। जैसे—

ना वह जामै ना मरै, ना आवै गर्भवास।
दादू ऊंघे मुख नहीं, नरक कुण्ड दस मास।।

परब्रह्म परापरं, सो मम देव निरंजनम्।
निराकारं निर्मलं, तस्य दादू वन्दनम्।।[17]

सन्त दादूदयाल जी ने ऐसे निर्गुण राम के दर्शन के लिए कहीं बाहर भटकने, तीर्थाटन करने या बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं कहीं है, किन्तु अपनी समस्त मनोवृत्तियों को अन्तर्मुख करके शरीरस्थ हृदय प्रदेश में ही स्वरूप से दर्शन कर सकते हैं—

आतम माँही राम है, पूजा ताकी होइ।।
सेवा वन्दन आरती, साधु करै सब कोई।।
कई दौड़े द्वारिका, केई काशी जांही।
केई मथुरा कें चले, साहिब घट ही मांही।।[18]

उपसंहार

सन्त दादूदयाल उपासना के क्षेत्र में निष्पक्ष मध्य मार्ग को मानते हैं। वे किसी भी प्रकार के राग द्वेष व पक्ष –विपक्ष में कभी नहीं पडे, क्यों कि उनका उपास्य अतिइन्द्रिय त्रिगुणातीत परब्रह्म सब प्रकार के पक्षों, सम्प्रदायों व धर्मों से रहित है।[19]

दादू दयाल अपने पंथ का परिचय देते हुए कह रहे हैं—हे भाइयों! हमारा पंथ ऐसा हैं, जिसमें हिन्दू-मुसलमान आदि मत-मतान्तरों से रहित एक ब्रह्म का ही आधार है। जो साधक ऐसे पंथ को धारण करता है, वह पूर्णब्रह्म के समान स्वयं पूर्णब्रह्म हो जाता है। उस पंथ का पथिक संसार में रहकर भी सबसे अलग रहता है। उसमें सहज ही समदृष्टि रहती है तथा अपने आप ही स्वतः ब्रह्मविचार करता है—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा, अवरण एक अधारा।।
वाद विवाद काहू सौं नाही, मांही जगत तै न्यारा।
समदृष्टि स्वभाव सहज में, आपहि आप विचारा।।[20]

अहंकार निवृति, तन-मन के समस्त दोषों को त्याग कर तथा संसार के समस्त पंचभूत प्राणियों से निर्वैर होकर हरिनाम चिन्तन करना ही दादू मत का सार है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्वेरी सब जीव सौं, दादु यहु मत सार।।[21]

सन्दर्भ

1. *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, संपादक डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल, पृ. 126
2. *निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका*, डॉ. रामसजन पाण्डेय, पृ. 51
3. *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 78
4. *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, संपादक डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल, पृ. 127
5. *निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका*, डॉ. रामसजन पाण्डेय, पृ. 52
6. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, परिचय का अंग पृ. 140
7. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, परिचय का अंग पृ. 142
8. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, परिचय का अंग पृ. 152
9. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, निष्कामी पतिव्रता का अंग पृ. 10
10. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VII
11. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VII
12. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VI-VIII
13. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VI
14. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VIII
15. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VIII
16. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VIll
17. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. IX
18. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. X
19. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, भूमिका पृ. VII
20. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी, पृ. 559
21. *श्रीदादूवाणी, श्री दादू तत्त्वार्थ प्रकाशिका*, टीकाकार संत चेतनदास स्वामी दया निर्वैरता का अंग, पृ. 469

हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

अनुगीता एवं वर्तमान समय में इसकी सार्थकता

समीर कुमार

विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में संस्कृत आज भी अपना श्रेष्ठतम स्थान सुरक्षित किये हुए है। भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं के लिये तो यह जननी तुल्य है। इसका विशाल हृदय सभी को अपने शब्दों से मण्डित करता है। भारत का समस्त प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, आयुर्वेद दर्शन, गणित आदि संस्कृत में समुपलब्ध है। इसी देववाणी में भारतीय संस्कृति और सभ्यता के दर्पण सदृश दो प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ *रामायण* और *महाभारत* विद्यमान है, जो परवर्ती संस्कृत साहित्य के जनक है। सभ्यता और विकास की गति के साथ हमारा बौद्धिक चिन्तन कितना उच्चकोटि का था इसका प्रमाण स्वयं *महाभारत* है जो यह स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सन्दर्भ में जो इस ग्रन्थ में है वह सर्वत्र है और इसमें नहीं, वह कहीं नहीं है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।।

महाभारत महाकाव्य के साथ-साथ ऐतिहासिक ग्रन्थ भी है क्योंकि इसमें राजवंशों का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ के प्रणेता व्यास मुनि है। *श्रीमद्भगवद्गीता, अनुगीता, उद्धवगीता, कामगीता, मनुगीता, व्यासगीता, सनत्सुजातीय गीता* आदि 94 से अधिक आध्यात्मिक और भक्तिपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ महाभारत से उद्धृत किये गये हैं। *अनुगीता* महाभारत के आश्वमेधिक पर्व का अंश है। संसार में ऐश्वर्य-भोग आदि से जीव का मन शान्त नहीं होता अपितु अशान्ति, ऐश्वर्य-भोग आदि वैसे ही बढ़ते हैं जैसे घी के संयोग से अग्नि। अत: मरणशील जीव को अमृत (मोक्ष) का पता बताने के लिए ब्रह्मा ने दो मानस पुत्रों को जन्म दिया—वशिष्ठ और नारद। वशिष्ठ के पुत्र शक्ति, शक्ति के पुत्र पराशर, पराशर के पुत्र कृष्ण द्वैपायन हुए। यही *अनुगीता* के प्रणेता हैं। *अनुगीता* के वक्ता स्वयं श्रीकृष्ण हैं—

अहं गुरुर्महाबाहो मन: शिष्यं च विद्धि मे।
तत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनञ्जय।। — *अनुगीता, पर्व 51.46*

अर्थात् कृष्ण स्वयं गुरु और उनका मन शिष्य है। यहाँ गुरु से तात्पर्य देवता अथवा परमात्मा है। जिन आत्मतत्त्वों का विवेचन विभिन्न उपनिषदों में किया गया है उन्हीं आत्मतत्त्वों का विशद विवेचन *अनुगीता* में किया गया है। जैसे—जीव, मोक्ष का स्वरूप, त्रिविध मार्ग, हिंसा-अहिंसा, आत्मा-परमात्मा, त्रिगुण, आश्रम आदि।

भगवान् श्रीकृष्ण भीष्म पर्व में श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन को युद्ध क्षेत्र में सुनाकर उसे युद्ध के लिए प्रेरणा देते हैं। उसे कर्म मार्ग पर आरूढ़ करते हैं, वहीं श्रीकृष्ण युद्ध के पश्चात् शान्तकाल में अर्जुन को *अनुगीता* का उपदेश देते हैं। इसमें सर्वत्र शान्तरस है। अर्जुन के (भक्त) प्रेमवश ही कृष्ण ने इस रहस्यमय सिद्धान्त का वर्णन किया था, इतना ही नहीं कृष्ण *अनुगीता* में *गीता* की ओर भी इंगित करते हुए कहते हैं—

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु। — *अनुगीता, पर्व 51.49*

तथा—

तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि। — *अनुगीता, पर्व 19.55*

हे महाबाहो! पहले भी मैंने (कृष्ण) युद्धकाल होने पर यही उपदेश तुमको दिया था अतः इसमें मन लगाओ। युद्ध के समय भी तुमने रथ पर बैठे-बैठे इसी तत्त्व को सुना था। यह *अनुगीता* अर्जुन की जिज्ञासा का परिणाम है। महाभारत के युद्ध के पश्चात् श्री कृष्ण तथा अर्जुन सभा भवन में रहने लगे तब एक बार अर्जुन, श्रीकृष्ण से पूछते हैं कि हे भगवन् युद्ध के समय आपके ईश्वरीय रूप का दर्शन हुआ। आपने जो गीता ज्ञान मुझे दिया अब चित्त विचलित होने के कारण नष्ट (विस्मृत) हो गया है। मुझे पुनः वही ज्ञान सुना दें क्योंकि इधर आप जल्दी ही द्वारका जाने वाले हैं। तब श्रीकृष्ण उल्हाना देते हैं कि उस दिव्य ज्ञान को विस्मृत कर तूने अच्छा नहीं किया। अब वह ज्ञान मैं भी प्रयास करने पर भी पूर्णतः नहीं बता सकूँगा। उस समय तुम्हें 'ब्रह्मपद' की प्राप्ति कराने को वह ज्ञान दिया गया था। अब वह ज्ञान उसी रूप में देना, मेरे लिए सम्भव नहीं है। उस समय मैंने योगयुक्त बनकर परमात्मा तत्त्व का वर्णन किया था, अब तो उस विषय का ज्ञान तुझे देने के लिए मैं एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करता हूँ। अतः अर्जुन की इस प्रकार जिज्ञासा के कारण ही *अनुगीता* का प्रारम्भ होता है। *अनुगीता* में दोनों की मानसिक स्थिति अब शान्त है। इसलिए वह उपदेश, उसी भाषा में देना सम्भव नहीं, अतः श्रीकृष्ण अर्जुन को 'पुरातन इतिहास' की कथा सुनाकर अर्जुन की जिज्ञासा को सन्तुष्ट करते हैं। श्रीकृष्ण के इस उद्बोधन को महाभारत में *अनुगीता* कहा गया है। *श्रीमद्भगवद्गीता* और *अनुगीता* के वक्ता व श्रोता क्रमशः एक ही है। परन्तु उस समय यह योगावस्था में सुनाया था और इस समय इतिहास रूप में संवाद माध्यम से सुनाया है—

इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्। — *अनुगीता, पर्व 16.13*

श्री कृष्ण ने *अनुगीता* में *श्रीमद्भगवद्गीता* की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार से उपदेश दिया है। इस काल की परिस्थिति भी युद्धकाल से बिल्कुल भिन्न थी। *भगवद्गीता* में जहाँ अध्यायों की संख्या 18 तथा श्लोक संख्या 700 हैं वही *अनुगीता* में 36 अध्याय तथा 1041 श्लोक हैं। इसका मुख्य विषय यथार्थ दर्शन और अन्तिम उद्देश्य मोक्ष या परम ज्ञान है।

अनुगीता के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण एक ब्राह्मण का प्रसंग सुनाते हैं, जो स्वर्गलोक में उनके पास आया। तब उन्होंने उससे मोक्षधर्म के विषय में पूछा तब उसने काश्यप ब्राह्मण का प्रसंग सुनाया। दिव्य योगी काश्यप ने आकाश में स्थित सिद्ध ब्राह्मण से कुछ प्रश्न किये, जीव की गति के विषय में। जीव के गर्भ प्रवेश, आचार, धर्म, कर्मफल की अनिवार्यता के साथ संसार सागर से तरने का उपाय भी पूछा तब सिद्ध ने इन सबके उत्तर दिये तथा मोक्ष प्राप्ति के उपाय भी बताये। इस प्रकार के विवेचन के साथ चार अध्यायों में यह काश्यप नामक उपगीता पूर्ण होती है।

इसके पश्चात् *ब्राह्मणगीता* का प्रारम्भ होता है जिसमें एक ज्ञानयोगी ब्राह्मण से उसकी पत्नी संवाद करती है कि आप कुछ भी नहीं करते हैं, केवल एक पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान लगाते हैं। तब ब्राह्मण ने मोक्ष के आधारभूत ज्ञान मार्ग की साधना को स्पष्ट किया। सब यज्ञों में श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ को माना गया है जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होता है। अनेक रूपकों एवं कथाओं के माध्यम से ब्राह्मण ने गुह्य आध्यात्मिक ज्ञान स्पष्ट किया है। मध्य में प्रसंगवश परशुराम एवं जनक की कथा भी आई है। ब्राह्मण ने ज्ञाननिष्ठता को सिद्ध किया है। अन्त में श्रीकृष्ण ब्राह्मण, ब्राह्मणी एवं क्षेत्रज्ञ का आध्यात्मिक रहस्य स्पष्ट करते हैं। यह *ब्राह्मणगीता* आकार में छोटी ही है, पर इसमें उच्चस्तरीय अध्यात्म का विवेचन बड़ी बोधगम्य शैली में किया गया है। इसमें आरम्भ में ही यह कह दिया है कि सामग्री, समिधा, घृत, सोम आदि से यज्ञ, हवन करना भी कर्म ही है, पर इस कर्म को राक्षस नष्ट करते रहते हैं। इसलिये सर्वोत्तम धर्म कर्त्तव्य आत्मा का ध्यान गरना ही है। इस ज्ञान-यज्ञ में पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि को ही अग्नि की सात जिह्वाएँ मानकर यज्ञ-कर्म की व्याख्या की गई है। *ब्राह्मणगीता* के बाद भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को मोक्ष धर्म का विस्तृत विवेचन समझाते हैं। ब्रह्माजी के द्वारा उत्पन्न सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के कार्य तथा फलों का प्रतिपादन करते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नामों का वर्णन करके उसके स्वरूप को जानने के फल भी बताते हैं। प्रकृति के भेद महत्, अहंकार, पंच महाभूत, इन्द्रियाँ आदि के स्वरूप को बतलाकर निवृत्ति मार्ग का उपदेश करते हैं। अन्तिम भाग में ब्राह्मण आदि वर्णधर्म तथा आश्रम धर्म को स्पष्ट करके मुक्ति के साधनों में, देहरूपी वृक्ष का ज्ञानरूपी खड्ग से काटने का विधान बतलाते हैं तथा विस्तार से आत्मा एवं परमात्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। अन्त में इस अध्यात्मवाद ज्ञान के पूर्णतया आचरण का उपदेश देकर श्रीकृष्ण द्वारका के लिए प्रस्थान करते हैं।

वर्तमान समय की बात की जाये तो 'आतंकवाद' आज की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक गम्भीर समस्या है। आज सभी जगह हिंसा को बढ़ावा मिल रहा है। देश-देश की लड़ाई में अनेक निर्दोषों की हत्या हो रही है। आज सम्पूर्ण मानवजाति इस समस्या से ग्रस्त दिखाई दे रही है। परमाणु बम के इस युग में अहिंसा मात्र एक शब्द बनकर रह गया है। स्थूल स्वार्थ के लिए आज मानव हिंसा रूपी शस्त्र उठा चुका है और दु:ख की बात तो यह है कि प्राणी मात्र की हिंसा आज के मानव चित्त ने स्वीकृत की है। महाभारतकार को ये सत्य शायद दृष्टिगत हो गया होगा, इसलिए ही उन्होंने महाभारत के अन्त में अपने मुख्य ध्येय *अनुगीता* में

अहिंसा का बोध रूप में प्रतिपादन किया है। आधुनिक समय में अहिंसा का बोध रूप में प्रतिपादन किया है। आधुनिक समय में अहिंसा के उपासक महात्मा गाँधी जी ने अंग्रेजों के सामने अहिंसक रास्ता अंगीकार करके देश को स्वातन्त्र्य दिया। महाभारतकार को भी धर्म, सत्य, तत्त्वज्ञान व भक्ति से 'अहिंसा' नामक महामन्त्र ज्यादा अभिप्रेत है, क्योंकि अहिंसा की दृढ़ता के लिए वेदव्यास ने अपने वाग्वैभव का जितना प्रदर्शन किया है, उतना अन्य किसी विषय का नहीं किया।

इतिहास साक्षी रहा है कि मनुष्य ने सदैव ही जीवन से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का उत्तर जानना चाहा है। जैसे वास्तविक ज्ञान क्या है? मोक्ष क्या है? इस शरीर का नाश कैसे होता है? फिर दूसरे शरीर की प्राप्ति कैसे होती है? संसारी जीव किस तरह इस दु:खमय संसार से मुक्त होता है? मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल कैसे भोगता है और शरीर न रहने पर उसके कर्म कहाँ रहते हैं? इस प्रकार के अनेक दार्शनिक प्रश्न मनुष्य की जिज्ञासा का विषय बने हुए हैं। यह न केवल दार्शनिक प्रश्न है अपितु वर्तमान में मानव की सबसे बड़ी समस्याएँ भी यही है। सब कुछ प्राप्त हो जाने पर भी यदि किसी मनुष्य को शान्ति नहीं है, उसका मन तब भी विचलित है तो वह इन्हीं प्रश्नों के समाधान खोजने लगता है। अत: ऐसी स्थिति में इन प्रश्नों के समाधान खोजने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है अपितु महाभारत में प्रदत्त *अनुगीता* के सूक्ष्म अध्ययन से ऐसी जिज्ञासाओं को शान्त किया जा सकता है।

वर्तमान समय में जिस प्रकार भौतिक मूल्यों का प्रभुत्व बढ़ रहा है तथा सांस्कृतिक मूल्यों का विस्थापन हो रहा है, ऐसी स्थिति में एक बार फिर समय आ गया है कि हमें गीताओं के संदेशों, नियमों एवं उनके द्वारा सुझाये गये मार्गों पर चलना होगा जिससे कि जीवन में स्थिरता बनी रहे, धर्म एवं संस्कृति का उत्थान हो एवं सांस्कृतिक व सामाजिक मूल्यों की पुन: स्थापना हो सके। वर्तमान समय में हम जंगलों का नाश कर रहे हैं, क्या ये हिंसा नहीं है? प्रकृति की लय को तोड़ना तो आज के विज्ञान के लिए नूतन खोज मानी जाती है। यदि धर्म का लय टूटने से युद्ध हुआ था तो परमतत्त्व की लय टूटने से क्या-क्या भयंकर परिणाम हो सकते हैं, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। ये भी एक प्रकार का युद्ध ही है। युद्ध की विभावना केवल मानव-मानव का संघर्ष तो नहीं है। मानव मन में भी सत्-असत् का संघर्ष अनवरत चलता रहता है। आज ये मनोविज्ञान का विषय माना जाता है, इस दृष्टि से *अनुगीता* के कृष्ण हमारे लिए मनोचिकित्सक हैं। अत: युद्ध के समय शान्ति की महिमा समझी जाये तथा आज के तनाव के कारण वर्तमानयुगीन समाज को मनोहिंसा की महिमा *अनुगीता* के द्वारा समझ में आयेगी तो हमारा ये प्रयास सार्थक बनेगा।

शोधछात्र (दर्शनशास्त्र विभाग)
1208 बरकत नगर, टौंक फाटक,
जयपुर-302015
दूरभाष : 9782432200

महाभारतीय गीता महोदधि कोशीय ग्रन्थ का परिचय

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

वेदान्त दर्शन के स्मृति प्रस्थान के अन्तर्गत 'भगवद्गीता' की व्याख्या करना वेदान्त के दार्शनिक आचार्यों का प्रधान अभीष्ट रहा है, जिसके कारण इस ग्रन्थ को विश्व के बौद्धिक जगत् में सर्वाधिक ख्याति अर्जित हुई है। गीता जिस प्रकार उपनिषदों के सारभूत सिद्धान्तों की सरल, सरस एवं तार्किक व्याख्या करती है, उसी तरह *महाभारत* में उपलब्ध 94 गीताएँ नैतिक, व्यावहारिक, सांसारिक, दार्शनिक तथा पारलौकिक आध्यात्मिक विषयों की जिज्ञासाओं का सीधा एवं सटीक समाधान प्रस्तुत करती है। यद्यपि अभी तक महाभारत की गीता, अनुगीता आदि 2-4 गीताओं को ही प्रसिद्धि मिली है। शेष अज्ञात प्राय: है। जन सामान्य एवं विद्वान् मनीषी समस्त गीता साहित्य से अपरिचित है। इस विषय में राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शनविभाग के उच्च अध्ययन केन्द्र के समन्वयक डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ने पर्याप्त अनुसन्धान करके 94 गीताओं का मूल संस्कृत पाठ एवं हिन्दी भाषानुवाद के साथ '*महाभारतीय गीता महोदधि*' नामक ग्रन्थ चार भागों में (लगभग दो हजार पृष्ठात्मक) प्रकाशित कर महनीय कार्य किया है। इस महत्त्वपूर्ण शोध कार्य को प्रस्तुत करने के कारण गीताओं के विषय में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई है।

सद्य: प्रकाशित इस कोशात्मक शोधग्रन्थ के प्रत्येक भाग में विस्तृत भूमिका, प्रत्येक गीता का सार, विषयानुक्रमणिका, ग्रन्थानुक्रमणिका आदि सुसज्जित है। महाभारत ग्रन्थ की प्रसिद्धि है कि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की समग्र एवं सम्पूर्ण व्याख्या इसमें महर्षि वेदव्यास ने प्रस्तुत की है, परवर्ती साहित्य में तो इसका अनुकरण मात्र है। महाभारत में यत्र-तत्र प्रस्तुत गीताएँ हैं उनके नवनीत को संग्रहीत कर बौद्धिक चिन्तन को एकत्र प्रस्तुत कर अद्भुत कार्य इस ग्रन्थ के द्वारा पूर्ण होता है। वस्तुत: ये गीताएँ भारतीय वैदिक चिन्तन की अमूल्य निधि है। इनमें प्रतिपादित सिद्धान्त अद्भुत एवं अनुपम है जिनमें मानवता के सर्वोच्च आदर्शों का मार्ग प्रशस्त होता है। सभी आत्मा एवं जीवों की समानता, सन्मार्ग, जीव कल्याण, प्राणि दया, दान-धर्म, ईश्वरानुराग, ज्ञान व वैराग्य, सत्य और अहिंसा, भक्ति एवं उपासना, कर्त्तव्य एवं मर्यादा, मातृभक्ति, पितृभक्ति एवं गुरु भक्ति, ज्ञाननिष्ठता, सुख एवं शान्ति की कामनाओं के साथ सद्गुणों की प्रतिष्ठा, मानसिक सन्ताप की निवृत्ति, अमरता एवं देवत्व की प्राप्ति आदि को शास्त्रीय रीति से प्रतिपादित किया गया है। जिनसे जीवन की अधिकतर समस्याओं का समाधान हो जाता है। अत: यह उपयोगी ग्रन्थ है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम भाग में वनपर्व एवं उद्योगपर्व की 16 गीताओं का अनुसन्धान हुआ है। यथा—शौनक, पुलस्त्य, धौम्य, अष्टावक्र, हनुमद्, आर्ष्टिषेण, नहुष, मार्कण्डेय, सरस्वती, मत्स्योपाख्यान, बक, युधिष्ठिर-I, II, व्याध, सावित्री एवं सनत्सुजातीय गीताएँ।

द्वितीय भाग में 32 गीताओं को संकलित किया गया है। यथा—भगवद्गीता, विदुर, जनक, सेनजिद् I, अश्म, स्वायंभुव मनु, भीष्मस्तवराज, मनु, उशनो, भार्गव, यज्ञ, नारायण, आङ्गिरस, कैकेय, उतथ्य, वामदेव, ऋषभ, ब्रह्म, भीष्म, खड्ग, षड्ज, सेनजिद् II, पिङ्गला, शम्पाक, मङ्कि, बोध्य, आजगर, शृगाल, कर्मफल, भृगु, जापक, मनुगीताएँ हैं जो स्त्री पर्व एवं शान्ति पर्व से गृहीत हैं।

तृतीय भाग में 30 गीताओं का संकलन है, यथा—अनुस्मृति, गुरुशिष्य, पञ्चशिख, सनत्कुमार, प्रह्लाद, बलि, नमुचि, लक्ष्मीवासव, जैगीषव्य, व्यास, मृत्यु, जाजलि, ब्रह्म, विचख्नु, गौतमचिरकारी, कपिल, असितदेवल, माण्डव्यजनक, पितापुत्र, हारीत, वृत्र, समङ्ग, गालव, अरिष्टनेमि, शुक्र, पाराशर, हंस, सांख्ययोग, वसिष्ठ, मुनि गीताएँ। ये गीताएँ शान्ति पर्व से संगृहीत हैं।

चतुर्थ भाग में 16 गीताओं का संकलन है जो शान्ति पर्व, अनुशासन पर्व तथा अश्वमेध पर्व से गृहीत हैं। यथा—याज्ञवल्क्य, सुलभा, व्यास- II, ययाति, नारद, नारायणीय, बृहस्पति, व्यासमैत्रेय, माहेश्वर, काम, अनुगीता, कश्यप, ब्राह्मण, अम्बरीश, गुरुशिष्य, तथा पाण्डव गीताएँ।

महाभारतीय क्रम से इनका संकलन सम्पन्न हुआ है। 94 गीताओं की यह सूची सर्वप्रथम उद्घाटित हुई है। इनमें उपदेशकर्ता देवता, ऋषि, राजर्षि, तत्त्वज्ञानी सन्त हैं। एक तरह से सम्पूर्ण महाभारत का सार सर्वस्व इसमें आ गया है। इसमें कथा का अंश नहीं है। केवल दार्शनिक मीमांसा ही मुख्य विवेच्य रही है, जो हमें एक नूतन दृष्टि प्रदान करती है। इन गीताओं के उपदेष्टा परावरज्ञ देवता, त्रिकालदर्शी महर्षिगण या पहुँचे हुए सन्त हैं जिन्होंने गुरुभाव में शिष्य को अमृत के उपदेश से आप्लावित एवं सिञ्चित किया है। इन दुर्लभ अमृतकणों के सञ्चय का प्रकाशन लोककल्याणार्थ प्रदर्शित हुआ है। इस अभूतपूर्व कार्य को करना सौभाग्य है। निस्सन्देह यह ग्रन्थ स्वागत के सर्वथा योग्य, संग्रहणीय, विवेचनीय तथा शास्त्रीय मार्ग का पथ प्रदर्शक है। मैं आशा करता हूँ पाठक इसका लाभ उठाकर सन्तुष्ट होंगे। ग्रन्थ का मुद्रण एवं प्रकाशन मनोहारी है।

ग्रन्थ का नाम — *महाभारतीय गीता महोदधि,* प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ भाग — डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान पृष्ठ संख्या 500 पृष्ठ (प्रत्येक भाग) मूल्य 600 रुपया (प्रतिभाग)।